CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भारतीय रहस्यवाद

राधेश्याम दूबे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रो. राधेश्याम दूबे मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के अध्येता हैं। भक्तिकालीन कवियों की रचनाओं का अध्ययन करते समय लेखक ने भारतीय रहस्यवाद को ध्यान में रखा है। वस्तुतः भारतीय अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या ही भारतीय रहस्यवाद है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में रहस्यवाद के अर्थ में अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या, उपनिषद्, गुह्यविद्या, गुह्यमार्ग आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। योग, भक्ति, कर्म और ज्ञान—ये भारतीय अध्यात्मसाधन के प्रधान उपाय हैं। अतः साधन की दृष्टि से विचार करते हुए लेखक ने भारतीय रहस्यवाद को चार भेदों में विभक्त कर (जैसे—योगपरक रहस्यवाद, भक्तिपरक रहस्यवाद, ज्ञानपरक रहस्यवाद, कर्मपरक रहस्यवाद) उनकी व्याख्या की है। भारतीय रहस्यवाद का विकासात्मक स्वरूप प्रस्तुत करते हुए विद्वान् लेखक ने उसके तात्त्विक स्वरूप की विवेचना की है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अध्ययन द्वारा रहस्यवाद अथवा भारतीय रहस्यवाद के सन्दर्भ में हिन्दी के पाठकों के मन में जो भ्रम की स्थिति बनी रहती है, वह दूर हो जाती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भारतीय रहस्यवाद

राधेश्याम दूबे

पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005 (उत्तर प्रदेश)

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

BHĀRATĪYA RAHASYAVĀDA

by

Radheyshyam Dubey

ISBN : 978-81-7124-894-0

प्रथम संस्करण : 2013 ई०

मूल्य : दो सौ रुपये (Rs. 200.00)

प्रकाशक

विश्वविद्यालय प्रकाशन

चौक, वाराणसी-221 001

फोन व फैक्स : (0542) 2413741, 2413082

E-mail : vvp@vsnl.com • sales@vvpbooks.com

Website : www.vvpbooks.com

मुद्रक

वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०

चौक, वाराणसी-221 001

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समर्पण

बाबू हंसनाथ सिंह, प्रधानाध्यापक
(1959–60 ई०), मिडिल स्कूल,
मैरवा, सिवान (बिहार)
की पावन स्मृति में
सादर समर्पित.....

—राधेश्याम दूबे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राक्कथन

रहस्यवाद शब्द एक ओर सिद्धांत और तत्ववाद की ओर संकेत करता है, तो दूसरी ओर 'रहस्य' तत्व से आप्लावित जीवन दर्शन की ओर भी इंगित करता है। रहस्यतत्व को प्राप्त करने के सिद्धांत के साथ रहस्यवाद साधक की रहस्यानुभूति से युक्त जीवन-रहनी भी है। रहस्यतत्व, रहस्यदर्शी और रहस्यानुभूति का समवेत स्वरूप रहस्यवाद में उद्घाटित होता है। रहस्यवाद का सघन स्वरूप भारतीय निगमागम ग्रंथों में व्याप्त है। वास्तव में भारतीय धर्म और दर्शन निगमागममूलक हैं। निगम (वेद) और आगम (तंत्र) एक दूसरे के पूरक हैं। निगम से कर्म, उपासना और ज्ञान के सम्यक् स्वरूप का बोध होता है और आगम से इनके साधनभूत उपायों की शिक्षा मिलती है। वस्तुतः भारतीय साधना इन्हीं पर आधारित है। भारतीय रहस्यवाद का मूल निगमागम ग्रंथों में ही सुलभ होता है। किन्तु भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत वैदिक और तांत्रिक साधना के तत्व समन्वित रूप में ग्रहण किये जाते हैं। वेद, उपनिषद्, गीता, श्रीमद्भागवत, पुराणों एवं भक्ति संप्रदायों में रहस्यवाद तथा तंत्रों में रहस्यवाद का अध्ययन भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत किया जाता है। भारतीय भूमि में उत्पन्न और विकसित जैन एवं बौद्ध रहस्यवाद का भी विवेचन भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत किया जाना समीचीन है।

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में रहस्यवाद के अर्थ में अध्यात्म विद्या अथवा ब्रह्मविद्या, उपनिषद्, गुह्यविद्या, गुह्यमार्ग आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। भारतीय धर्म निगमागममूलक है, जिसमें अध्यात्मवाद की प्रधानता है। वस्तुतः अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्म विद्या ही भारतीय रहस्यवाद है, जिसके अन्तर्गत निगमागमसम्मत रहस्यवाद का अध्ययन ग्राह्य है। इस प्रकार भारतीय अध्यात्म-विद्या अथवा भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत साध्य, साधन और अनुभूति का विवेचन होता है। इस प्रकार भारतीय रहस्यवाद का विषय है—मूल रहस्य तत्व (साध्य), मूल रहस्यतत्व की उपलब्धि की प्रक्रिया (साधन) तथा मूल रहस्य तत्व की आध्यात्मिक अनुभूति। साथ ही उक्त अनुभूति की अभिव्यक्ति शैली को भी भारतीय रहस्यवाद का विषय बनाया जा सकता है। अतः रहस्यवाद अथवा भारतीय रहस्यवाद की परिभाषा के रूप में कहा जा सकता है कि वह परमात्म सत्ता के साथ होने वाले ऐक्य के लिए किये गये प्रातिभ साक्षात्कार की स्वानुभूति से संपन्न मानव-चेतना अथवा मनोवृति का साधन एवं जीवन-दर्शन है। साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति सांकेतिक, प्रतीकात्मक एवं पौराणिक शैली के माध्यम से होती है।

वस्तुतः भारतीय धर्म और दर्शन के समान ही भारतीय रहस्यवाद भी निगमागमसम्मत है, जिसमें निगम अर्थात् वैदिक रहस्यवाद तथा आगम अर्थात् तांत्रिक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहस्यवाद का अध्ययन ग्राह्य है। इस प्रकार भारतीय रहस्यवाद के अंतर्गत याज्ञिक, औपनिषद, गीतागत, पुराणगत, मध्यकालीन भक्तिसंप्रदायगत, तांत्रिक, बौद्ध, जैन आदि रहस्यवादों का अध्ययन किया जाना उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार धर्म अथवा संप्रदाय की दृष्टि से भारतीय रहस्यवाद को वैदिक, तांत्रिक, बौद्ध, जैन रहस्यवाद आदि भेदों में विभक्त किया जा सकता है। तत्वोपलब्धि की प्रक्रिया अर्थात् साधन की दृष्टि से भारतीय रहस्यवाद को निम्नलिखित प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है— (1) योगपरक रहस्यवाद, (2) भक्तिपरक रहस्यवाद, (3) ज्ञानपरक रहस्यवाद और (4) कर्मपरक रहस्यवाद। योग, भक्ति, कर्म और ज्ञान- ये भारतीय अध्यात्म-साधन के प्रधान उपाय हैं। लगभग सभी प्रकार के साधनों का इनमें समावेश हो जाता है।

भारतीय रहस्यवाद के स्वरूप निर्धारण के लिए डॉ० आर०डी० रानडे द्वारा लिखित 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र', 'पाथ वे टु गाड इन हिन्दी लिटरेचर', डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त द्वारा लिखित 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' आदि पुस्तकों को दृष्टि में रखा गया है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, एवलिन अंडरहिल, महर्षि अरविन्द, एफ०सी० हैपोल्ड, डब्लू०आर० इंज आदि लेखकों द्वारा लिखित पुस्तकों के आधार पर रहस्यवाद तथा भारतीय रहस्यवाद का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मैं उन सभी लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनकी कृतियों द्वारा परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप में सहायता मिली है। इस अवसर पर पूज्य गुरुवर प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय की अहेतुकी कृपा के लिए विशेष रूप से आभारी हूँ। उनकी कृपा के बल पर ही मैं रहस्यवाद जैसे गंभीर विषय पर लेखनी चलाने में समर्थ हो सका। बाबू हंसनाथ सिंह, प्रधानाध्यापक (1959-60 ई०), मिडिल स्कूल, मैरवा, सिवान (बिहार) के ऋषि-ऋण से उऋण होना असंभव है। सातवीं कक्षा में उनकी कृपा की वर्षा हुई और बिना पूर्व-परिचय के ही उनके सान्निध्य में उनके पोतों के साथ रहने का अवसर मिल गया। ऋषिरूप बाबू हंसनाथ सिंह के उपदेश मेरे जीवन के पाथेय बने। उनकी स्मृति आज भी मुझे प्रेरणा प्रदान करती है। इसे ग्रंथ रूप में प्रकाशित कराने के लिए प्रिय शिष्य डॉ० राजकुमार उपाध्याय 'मणि' का प्रयत्न सराहनीय रहा है। उन्हीं के कारण 'भारतीय रहस्यवाद' एक ग्रंथ के रूप में सामने आ सका है। शुद्ध टंकण के लिए श्री संतोष जी भी साधुवाद के पात्र हैं।

वाराणसी **–प्रो० राधेश्याम दूबे**

श्रीरामनवमी, 2069 वि०

1 अप्रैल, 2012

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विषयानुक्रमणिका

पृष्ठ

प्राक्कथन v

खण्ड (क)

रहस्यवाद का सामान्य परिचय

रहस्यवाद शब्द 1
रहस्यवाद तथा जादू विद्या, धर्म आदि शब्द 4
रहस्यवाद की परिभाषाएँ 8
रहस्यवाद का स्वरूप और तत्व 15
वास्तविक रहस्यवाद का स्वरूप 18
वैश्व रहस्यवाद का सार्वजनीन स्वरूप 21
रहस्यवाद के भेद 22
रहस्यवाद का साध्य 31
रहस्यवाद की साधना 33
रहस्यवादी साधक और उसका जीवन 35
रहस्यानुभूति का स्वरूप 40
रहस्यवादी अनुभव की वास्तविकता के लक्षण 42
(1) सार्वभौमिकता का तत्व 42, (2) बौद्धिक दृष्टि 42,
(3) भावात्मक दृष्टि 42, (4) नैतिक दृष्टि 43, (5) प्रातिभ दृष्टि 43
रहस्यवाद का साहित्यिक एवं मानवीय मूल्यांकन 44
रहस्यवादी अभिव्यक्ति 49
निष्कर्ष 51

खण्ड (ख)

भारतीय रहस्यवाद का स्वरूप और उसके भेद

भारतीय रहस्यवाद का परिचय 58
भारतीय दृष्टि से रहस्यवाद की परिभाषा 60
भारतीय रहस्यवाद का स्वरूप और उसके भेद 62

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भारतीय रहस्यवाद का विकासात्मक अध्ययन 64
वेद, ब्राह्मणग्रंथ तथा आरण्यक ग्रंथ 64
औपनिषद रहस्यवाद 71
श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में रहस्यवाद 80
गीता में कर्म योग 85
गीता में ज्ञानयोग 87
गीता में ध्यानयोग 89
गीता में भक्तियोग 92
वैष्णव गुह्यविद्या-(पांचरात्र मत) 96
शैव गुह्यविद्या-(तंत्रवाद) 97
श्रीमद्‌भागवत में रहस्यवाद 98
शांडिल्य भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र 101
भक्ति आन्दोलन के संप्रदायों में सामान्य रहस्यवाद 105
नास्तिक परंपरा में रहस्यवाद 108
बौद्ध रहस्यवाद 108
जैन रहस्यवाद 118
भारतीय रहस्यवाद का तात्विक अध्ययन 124
वैदिक रहस्यवाद के तत्त्व 124
तांत्रिक रहस्यवाद के तत्त्व 126
औपनिषद रहस्यवाद के तत्त्व 129
बौद्ध रहस्यवाद के तत्त्व 129
जैन रहस्यवाद के तत्त्व 130
भक्तिपरक रहस्यवाद 131
ज्ञानपरक रहस्यवाद 136
योगपरक रहस्यवाद 138
कर्मपरक रहस्यवाद 148
परिशिष्ट (सहायक साहित्य) 158
(अ) संस्कृत ग्रंथ 158
(ब) हिन्दी ग्रंथ 158
(स) अंग्रेजी ग्रंथ 161
(द) कोश एवं पत्र-पत्रिकाएँ 163

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

खण्ड (क)

रहस्यवाद का सामान्य परिचय

रहस्यवाद की अजस्र धारा विविध रूपों में चिरकाल से प्रवाहित होती चली आ रही है। मानव जीवन के आरम्भकाल से ही रहस्यभावना का अस्तित्व किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान रहा है। अतः यह सहज ही अनुमेय है कि मानव सृष्टि और ईश्वर की भावना के जन्म के साथ ही साथ रहस्य-भावना का भी जन्म हुआ होगा। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि अबुद्धिबोध्य अव्यक्त सत्ता की अनुभूति को व्यक्त करने की कठिनाई के मूल में ही रहस्यभावना का उद्‌गम स्रोत सुलभ हुआ होगा। संपूर्ण विश्व वाङ्मय में रहस्यवाद नाम अधिक प्राचीन नहीं है, यों यह बात दूसरी है कि सृष्टि के आदि से ही रहस्यभावना का कोई न कोई रूप विद्यमान है। अतः रहस्यवाद की पुरातन परंपरा के अनुसार ही उसका क्षेत्र भी विस्तृत एवं विशाल माना गया है। धर्म, दर्शन, साहित्य आदि के साथ मानव जीवन के नानाविध क्षेत्रों में रहस्यवाद के अनन्त रूप के दर्शन होते हैं।

रहस्यवाद शब्द

अंग्रेजी के 'मिस्टिसिज्म' शब्द के रूपान्तर के रूप में रहस्यवाद रूढ़-सा हो गया है। 'मिस्टिसिज्म' शब्द भी बहुत प्राचीनकाल से अंग्रेजी साहित्य में प्रयुक्त नहीं होता था। लगभग 1900 ई० के अनन्तर ही अंग्रेजी का 'मिस्टिसिज्म' शब्द सामान्यतः प्रयोग में आने लगा। यों मिस्टिक (Mystik) शब्द का मूल ग्रीक रहस्यमय क्रियाओं में देखने को मिलता है । कहा जाता है कि मिस्टिसिज्म शब्द से पहले लैटिन चर्चों में 'कांटेम्प्लेशन' शब्द प्रयुक्त होता था। इसीलिए सेंट आगस्टाइन, ग्रेगोरी एवं बर्नार्ड में 'मिस्टिसिज्म' शब्द के बदले 'कांटेम्प्लेशन' शब्द का प्रयोग मिलता है । व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि अंग्रेजी का 'मिस्टिक' शब्द ग्रीक शब्द 'मिस्टेस' (Mystes) अथवा मस्टेस (Mustes) से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है जीवन-मृत्यु के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दीक्षित व्यक्ति अर्थात जीवन एवं मरण रूपी दो दीवारों के पीछे निहित रहस्य को जानने वाले दीक्षित व्यक्ति को 'मिस्टिक' कहा जाता है । इस 'मिस्टिक' (Mystik) शब्द के साथ 'इज्म' (Ism) का योग होने पर 'मिस्टिसिज्म' (Mysticism) शब्द बना है। इस प्रकार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'मिस्टिसिज्म' शब्द द्वारा किसी गुप्त विद्या अथवा किसी ऐसी साधना पद्धति का बोध होता है जो गुप्त कृत्यों से सम्बद्ध हो और जो इसी कारण रहस्यमयी भी कही जा सकती है।[1]

सामान्य बोलचाल और प्रयोग में 'मिस्टिसिज्म' एक बहुत ही अनिश्चयात्मक अर्थ देनेवाला शब्द है। अभी निकट अतीत में 'मिस्टिसिज्म' शब्द का प्रयोग प्रकृत्या भिन्न दो जर्मन शब्दो–मिस्टिजिस्मुस (Mystizismus) और मिस्टिक (Mystik) के समानार्थी रूप में होता रहा है।

मिस्टिजिस्मुस का प्रयोग अतिप्राकृतिक धर्मसंप्रदाय, ब्रह्मविद्या संबंधी अनुगमन, आत्मिक खोज की आध्यात्मिक सिद्धि के लिए होता है। मिस्टिक का अर्थ है ईश्वर और मानव के समागम और संबंध का सद्यः अनुभव। इस प्रकार मिस्टिसिज्म का प्रयोग सामान्यतः दोनों अर्थों में हुआ है—(1) ईश्वर के साथ साक्षात् समागम का प्रत्यक्षानुभव और (2) निरपेक्ष सत्ता अर्थात् ईश्वर के साथ आत्मा के सम्भव ऐक्य का धर्मशास्त्रीय तत्व-वैज्ञानिक सिद्धांत। 'मिस्टिसिज्म', चरमसत्ता के साथ मानव आत्मा के सम्भाव्य ऐक्य एवं संबंध के ऐतिहासिक सिद्धान्त को व्यक्त करता है। इस संदर्भ में ईश्वर के साथ साक्षात् समागम के लिए रहस्यानुभव का प्रयोग विहित है।[2]

हिन्दी साहित्य में 'रहस्यवाद' शब्द अंग्रेजी मिस्टिसिज्म के अनूदित रूप में प्रयुक्त होता है। इस शब्द का प्रयोग हिन्दी के कवियों और आलोचकों ने सन् 1920 और उसके बाद आधुनिक युगीन काव्यधाराओं के विवेचन प्रसंग में किया जिसमें छायावाद और रहस्यवाद के सौम्य-वैषम्य एवं भिन्नता-अभिन्नता पर बड़े विवाद हुए।[3]

अन्य भारतीय भाषाओं में रहस्यवाद के लिए विविध शब्दों का प्रयोग किया गया है। रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म) का भाव व्यक्त करने के लिए मराठी लेखकों ने प्रायः 'गूढवाद' अथवा 'गूढ़ गुंजन' शब्द का प्रयोग किया है। इसी प्रकार बंगला भाषा के लेखकों ने मिस्टिसिज्म के लिए 'मरमी का भाव' या 'मरमियावाद' शब्द का प्रयोग किया। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शब्दों का प्रयोग किसी गूढ़तासूचक आशय के लिए किया गया है। कुछ दूसरे लेखकों ने भी मिस्टिसिज्म के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया है। माधवत्रयम्बक पटवर्धन ने 'सायुज्यवाद', आ०रा० देशपाण्डे ने ज्ञानेश्वरी के प्रयोग के आधार पर 'प्रतीतिवाद' शब्द का प्रयोग किया। ज्ञानेश्वरी के पद 'शून्य शोधिलें नाहीं जेणे। काय विवरण फेले तेणे' (जिसने शून्य का शोधन नहीं किया, वह विवरण क्या करेगा?), के आधार पर कुछ लोगों ने मिस्टिसिज्म से संबंधित रचनाओं के लिए 'शून्य शोधन' शब्द भी चलाया था।[4] रायबहादुर बैजनाथ पंड्या ने अनूदित ग्रंथ 'भावनायोग' में मिस्टिसिज्म के अनेक हिन्दी पर्यायों (रहस्ययोग, अपरोक्ष ज्ञानवाद, ब्रह्मसाक्षात्कारवाद) में से भावनायोग को सर्वाधिक सटीक सिद्ध किया है। उनके अनुसार परमप्रेमपूर्वक ईश्वर का नाम स्मरण करने से उसका साक्षात्कार होता

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है जिसमें भावना का कार्य ही प्रधान होता है। इसीलिए मिस्टिसिज्म के लिए 'भावनायोग' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[5] इस प्रकार मिस्टिसिज्म के लिए विभिन्न हिन्दी शब्द मिलते हैं। इन सभी हिन्दी शब्दों में 'रहस्यवाद' शब्द अधिक प्रचलित, प्रसिद्ध एवं बहुप्रयुक्त है।

'रहस्यवाद' शब्द 'रहस्य' और 'वाद' के संयोग से बना है। 'रहस्य' शब्द का मूलाधार संस्कृत 'रहस्' पर आधारित है। रह् धातु (=त्याग करना) के आगे असुन् प्रत्यय लगाकर रहस् शब्द बना है जिसका अर्थ है विविक्त, विजन, गुह्य, एकांत, भेद की बात आदि। स्पष्ट है कि रहस् द्वारा गोपनीयता का बोध होना स्वाभाविक है। ऋग्वेद में प्रयुक्त 'रहस्' शब्द भी गोपनीयता की ओर ही संकेत करता है। यहाँ रहसू का प्रयोग किसी ऐसी माता के लिए किया गया है जिसने स्वयं अविवाहिता रहने के कारण गुप्त रूप से अपने शिशु को जन्म दिया हो। कोशों में कहा गया है कि यत् प्रत्यय के संयोग से (रहसि भवः-यत्) रहस्य शब्द की निष्पत्ति हुई है जिसका अर्थ है- गुप्त, जो एकान्त में हुआ हो, गोपनीय अथवा निर्जनभव। इस प्रकार व्युत्पत्ति को निमित्त मानकर ये सब अर्थ किये गये हैं।[6] धार्मिक या आध्यात्मिक प्रसंगों में भेद, मर्म अथवा सारतत्व के पर्याय के रूप में प्रायः रहस्य शब्द का प्रयोग होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के विविध प्रसंगों में उक्त प्रयोग किये गये हैं। गीता के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिए मैंने यह पुरातन योग तेरे लिए कहा है जो सभी रहस्यों में उत्तम रहस्य है।[7] यहाँ रहस्य सारतत्व अथवा मर्म का ही द्योतक है। इसके अतिरिक्त गीता के ही अठारहवें अध्याय में उपर्युक्त रहस्य तत्व का निर्वचन किया गया है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि संपूर्ण गोपनीयों से भी अति गोपनीय (सर्वगुह्यतमम्) मेरे परम वचन को तू सुन अथवा जो पुरुष मुझमें भक्ति रखते हुए परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्र (परमं गुह्यम्) को मेरे भक्तों में कहेगा, वह निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होगा। एक अन्य श्लोक में भी वे कहते हैं कि यह गोपनीय से भी अति गोपनीय (गुह्यात् गुह्यतरम्) ज्ञान मैंने तेरे लिए कहा है। यह भी कहा गया है कि इस गीतारूप परमरहस्य को किसी भी ऐसे व्यक्ति से नहीं कहना चाहिए जो भक्तिरहित, तपरहित एवं सुनने की इच्छा नहीं रखता है और निंदक है। यहाँ श्रोता को भी अधिकारी होना चाहिए।[8] गीता के उपर्युक्त कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय साहित्य के गीता जैसे ग्रंथों में गुह्य और गूढ़ जैसे शब्दों का प्रयोग 'रहस्य' जैसे अर्थ वाले शब्दों के लिए होता था। मेदिनीकोश के रहस्तत्वे रमे गुह्ये जैसे पदों से भी इसकी पुष्टि होती है अर्थात् ये तीनों शब्द समानार्थी हैं। रहस्य के साथ जुड़ा हुआ वाद शब्द किसी 'मत' का बोध कराता है। इस प्रकार निष्कर्षतः 'रहस्यवाद' का अर्थ गूढ़तत्व विषयक मत माना जा सकता है जो उचित भी प्रतीत होता है।[9]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इस रहस्यवाद शब्द का प्रयोग इस रूप में उपलब्ध नहीं होता। लेकिन इसके साथ ही यदि एक ओर 'रहस्य संप्रदाय' शब्द का प्रयोग मिलता है तो दूसरी ओर प्रायः एक ही आशय की ओर संकेत करने वाले गुह्य मार्ग, गुह्य तत्व, उपनिषद् जैसे शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं। भारतीय परंपरा में अलग से वाद शब्द के प्रयोग मिलते हैं जहाँ वाद का अर्थ है दो तत्व-जिज्ञासुओं के बीच चलने वाले तत्व पर्यवसायी विचार जिनमें आग्रह, एकांगिता और अतिरेक का समावेश नहीं है। वस्तुतः भारतीय तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो 'वाद' में तात्विक बोध के अनुरूप विचार पर बल दिया जाता है, एक-दूसरे के प्रति विरोध पर नहीं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रहस्य और 'वाद' के अलग-अलग प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय में मिलते हैं। प्रयोग को देखकर कहा जा सकता है कि जो कुछ बुद्धि-बोध्य न हो वह रहस्य है अर्थात् रहस्यमय तत्व सदा-सर्वदा बुद्धि के लिए दुर्लङ्घ्य ही होता है। इस प्रकार वह मूल तत्व ही केवल रहस्य नहीं है, अपितु उसकी अनुभूति का विवरण एवं उसकी प्राप्ति-प्रक्रिया भी 'रहस्य' है। इसी कारण रहस्य की अभिव्यक्ति भी रहस्यमयी जान पड़ती है। डॉ. त्रिपाठी ने रहस्यवाद शब्द पर भारतीय दृष्टि से विचार करते हुए उसे एक स्वतंत्र शब्द मानने का आग्रह किया है। उनकी दृष्टि में रहस्यवाद को मिस्टिसिज्म के शब्दान्तर के रूप में ग्रहण न कर एक स्वतंत्र शब्द के रूप में, भारतीय प्रयोगों के आधार पर, एक सुनिश्चित अर्थ देना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में कहा जा सकता है कि "रहस्यवाद को मिस्टिसिज्म के रूपान्तर के रूप में न ग्रहण करने के भी कतिपय कारण हैं। उसमें से एक तो यह है कि यह रूपान्तर ही भ्रांतिमूलक एवं भ्रान्तिकारी है। मूलतः यह मिस्टिसिज्म रहस्यानुभवी सन्तों का एक भाव है। मिस्टिक जिस कारण से मिस्टिक है, वह मूल भाव है। रहस्यवाद शब्द इस मूल अर्थ का संकेत न देकर रहस्य विषयक वाद या विचार का संकेत देता है और काव्यालोचन के संदर्भ में तो एकांगिता, अतिरेक एंव आग्रह गर्भित विचारधारा का बोधक हो जाता है।"[10]

इस समय की स्थिति के अनुसार 'रहस्यवाद' शब्द के सामर्थ्य एवं असामर्थ्य, भारतीयता-अभारतीयता का प्रश्न अब गौण हो गया है। अब तो यह रहस्यवाद शब्द मिस्टिसिज्म के रूपान्तार के रूप में रूढ़-सा हो गया है। डॉ. त्रिपाठी का यह विचार अवश्य ही चिन्त्य है कि भारतीय दृष्टि और चिन्तन पद्धति से विचार करते हुए रहस्यवाद शब्द को स्वतंत्र एवं सुनिश्चित अर्थ में व्याख्यायित करना चाहिए।

रहस्यवाद तथा जादू विद्या, धर्म आदि शब्द

रहस्यवाद के अन्तर्गत जादू, टोना, तंत्र, मंत्र आदि को भी गिना जाता रहा है। रहस्य के अंतर्गत गुह्यता और गोपनीयता की जो भावना मिलती है, वह जादूविद्याओं के साधकों में भी विद्यमान है। कुछ लोगों के अनुसार ऐसी विद्याओं का आरंभ संभवतः

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्राच्य देशों (पूर्वी) में हुआ था। बाद में चलकर ये विद्यायें पश्चिमी देशों में मैजिक नाम से प्रचलित हुई। मैजिक शब्द का मूल सम्बन्ध 'मागी' (Magi) लोगों के नाम से जुड़ा हुआ है। ये मागी लोग प्राचीन ईरानियों के पुरोहित हुआ करते थे। ये लोग रहस्यशक्ति से युक्त माने जाते थे और इसलिए अपार श्रद्धा के पात्र समझे जाते थे। इसी प्रकार जादू शब्द की व्युत्पत्ति लोग यातु शब्द से निष्पन्न करते हैं।[11] आदिम जादू से ही, डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य तंत्रवाद का विकास मानते हैं और जादू, रहस्यवाद, इन्द्रजाल, पिशाचविद्या आदि के मूल में भय को ही क्रियाशील मानते हैं।[12]

एवलिन अंडरहिल ने रहस्यवाद और मैजिक के परस्पर सम्बन्धों पर विधिवत विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि मानव जाति के आध्यात्मिक इतिहास से स्पष्ट होता है कि वह अदृश्य शक्ति पर विचार करने के लिए उसके प्रति सर्वदा से ही दो विशिष्ट और मौलिक दृष्टिकोणों को प्रश्रय देती रही है। उस अदृश्य शक्ति के निकट आने के उद्देश्य से वह उन दो दृष्टिकोणों के अनुसार दो साधनापद्धतियों का भी प्रयोग करती रही है। ये साधना पद्धतियाँ हैं–जादू का मार्ग (वे आफ मैजिक) और रहस्यवाद का मार्ग (वे आफ मिस्टिसिज्म)। अंडरहिल ने इन दोनों मार्गों के परस्पर विरोधी तथ्यों की ओर भी संकेत किया है। कुमारी अंडरहिल ने बताया है कि यद्यपि ये दोनों मार्ग अपने अंतिम रूपों की दृष्टि से एक दूसरे से नितांत भिन्न हैं, लेकिन फिर भी इन दोनों मार्गों की सीमाओं का निरूपण करना सरल नहीं है। एक ही प्रस्थान-विन्दु से प्रारंभ होकर ये दोनों मार्ग एक ही समान भाषा, साधनों और पद्धतियों के प्रयोग द्वारा बहुधा किसी जिज्ञासु को भ्रम में डाल देते हैं। फलस्वरूप वस्तुतः जिसे जादू कहना चाहिए, साधारणतः उसका रहस्यवाद के रूप में वर्णन होने लगता है। तथ्य यह है कि ये दोनों विद्याएँ मानव की अतीन्द्रिय चेतना के दोनों छोरों का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन दोनों विद्याओं के मध्य वे सभी महान् धर्म अवस्थित होते हैं जो इस रूपक के अनुसार, उस मानव चेतना के क्षेत्र में सुलभ विभिन्न पड़ावों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं। किसी भी महान् धार्मिक व्यक्ति का अस्तित्व रहस्यवाद के साहचर्य के अभाव में सम्भव नहीं है तथा साथ ही धार्मिक व्यक्ति के अलावा कोई भी रहस्यवादी नहीं हो सकता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि रहस्यवाद और जादू विद्या, दोनों ही अन्ततः किसी धर्म के रूप में परिणत हो जाती हैं। साथ ही दोनों में कोई तात्विक अंतर भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है।[13]

जादू विद्या एवं रहस्यविद्या पर विचार करते हुए कुमारी अंडरहिल ने उनमें मौलिक अंतर भी दिखाया है। उनकी दृष्टि में जादूविद्या कुछ पाना चाहती है और रहस्यवाद प्रदान करना चाहता है। ये प्राप्य और देय वस्तुएँ अमर और प्रतिकूल दृष्टिकोणों से संबद्ध हो सकती हैं जो किसी न किसी रूप में प्रत्येक विचार-युग में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सुलभ होती हैं। यद्यपि ये दोनों विद्याएँ अपने पूर्ण विकसित रूप में किसी असामान्य शक्ति को सुलभ कराने का दावा करती प्रतीत होती हैं, किन्तु इनके उद्देश्यों और साधनों में महान अंतर देखने को मिलता है जिससे हम इन्हें ठीक एक समान भी नहीं मान सकते। रहस्यवाद में व्यक्ति की संकल्पशक्ति भावोत्तेजित इच्छा के रूप में केन्द्रिय विश्व से अतीत होने के लिए संवेगों से एकान्वित होती है और इस प्रकार रहस्यवाद का साधक अपनी प्रज्ञा के बल पर परम शाश्वत सत्ता के साथ प्रेमात्मक सम्बन्ध स्थिर करके अपने व्यक्तित्व को विश्वात्मक चेतना में संयुक्त कर देना चाहता है। वहीं दूसरी ओर जादू विद्या में व्यक्ति की संकल्पशक्ति भावोत्तेजित इच्छा के रूप में अतीन्द्रिय ज्ञान के लिए बुद्धिबल से एकान्वित होती है। जादू विद्या का सारा उपक्रम वैसी सत्ता के बल पर अहंकारयुक्त वैयक्तिक भावना से युक्त होकर व्यक्तिगत रूप में शक्तिसंपन्न बनने के लिए होता है। जहाँ एक ओर किसी रहस्यवादी साधक में अपने को सर्वथा निर्वैयक्तिक कर वैसी सत्ता के प्रति समर्पित करने की उदार वृत्ति देखी जाती है, वहीं दूसरी ओर जादू विद्या के प्रयोग अधिकतर स्वयं वैयक्तिक रूप में शक्तिशाली बनने के लिए किये जाते हैं जिससे अभीष्ट लाभ की प्राप्ति हो सके। इस प्रकार दोनों प्रकार के साधकों की मनोवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। जादूगर मंत्रों या युक्तियों के बल पर अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है। रहस्यवादी कुछ पाने के उद्देश्य से प्रेरित होकर अपनी साधना नहीं करता।[14] अतः ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होता है कि जादू विद्या और रहस्यवाद में पर्याप्त अंतर है। जादूविद्या और रहस्यवाद में कई बिन्दुओं पर साम्य है तथा साथ ही जादू रहस्यवाद के लिए भ्रम भी उत्पन्न करता है, फिर भी मूलतः दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं। अलौकिक सत्ता अथवा गूढ़तत्त्व जादूविद्या के साधक के लिए साधन का काम देता है। वह उसके लिए अधिक से अधिक अनुपम शक्ति का भंडार है। दूसरी ओर रहस्यवाद के साधक उस परम अलौकिक सत्ता को अपने सर्वस्व अथवा परम अभीष्ट के रूप में स्वीकार करते हैं अथवा वह उनके लिए साध्य है। रहस्यवादी उस गूढ़तत्त्व का प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। फिर भी जादूविद्या और रहस्यवाद इस बात पर सहमत जान पड़ते हैं कि वह अपूर्व सत्ता अथवा गूढ़तत्त्व अगम्य अथवा इन्द्रियातीत है और इसी कारण वह रहस्य भी बना हुआ है।[15]

कुछ विद्वानों ने रहस्यवाद को विकृत मानसिक दशाओं से भी अभिन्न ठहराने का प्रयास किया है। ऐसी मानसिक दशाएँ किसी मानसिक रोग अथवा औषधि प्रयोग के द्वारा प्रायः उत्पन्न हो जाती हैं। उन्माद अथवा हिस्टिरिया जैसे रोगों की दशा में अथवा मादक वस्तुओं के सेवन की स्थिति में मनोविकार दीख पड़ने लगते हैं। ऐसे समय में आदमी रहस्यवादी व्यक्ति के समान व्यवहार करने लगता है। लेकिन यह समानता केवल बाहरी सादृश्यों पर आधारित होती है, इसलिए इन्हें अभिन्न नहीं ठहराया जा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सकता। वस्तुतः जिस अलौकिक सौन्दर्य, आध्यात्मिक आनन्द अथवा उदारवृत्ति का बोध हमें रहस्यानुभूति की दशा में होता है, उसकी औषधिक अथवा औपचारिक मनोदशा की स्थिति में कभी कोई संभावना भी नहीं की जा सकती। दोनों के स्तर नितांत भिन्न हैं। मानसिक रोग या औषधि प्रयोग की दशा में केवल कतिपय क्षणिक भौतिक मनोविकार उत्पन्न होकर रह जाते हैं, जब कि रहस्यवादी के जीवन में आचारगत उदात्तता भी दिखायी पड़ती है।[16] इस प्रकार रहस्यवाद उन्माद या हिस्टिरिया के रोगी अथवा औषधि-प्रयोग की दशा से भिन्न होता है। बेनेट ने इसे और स्पष्ट करते हुए बताया है कि रहस्यवादी कोई मरीज (पैथालाजिक केस) नहीं, क्योंकि मरीज अपनी शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं से आक्रांत रहता है, जब कि रहस्यवादी कुछ हद तक इन सबका स्वामी होता है। इसी प्रकार हिस्टिरिया के रोगी से भी रहस्यवादी की तुलना नहीं की जा सकती है।[17]

धर्म और रहस्य का परस्पर सम्बन्ध भी द्रष्टव्य है। धर्म पश्चिम के 'रेलिजन' का पर्याय नहीं है। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार अंग्रेजी के 'रेलिजन' शब्द से विभिन्न जातीय ईश्वरोपासना की प्रणाली का बोध होता है। इसीलिए पश्चिम में मनुष्य एवं ईश्वर के मध्य के विश्वास को धर्म (रेलिजन) कहा जाता है। अतः इस दृष्टि से पश्चिम में मत-परिवर्तन अथवा धर्मपरिवर्तन संभव है। भारत में कुल तीन दृष्टियों से धर्म के स्वरूप पर विचार किया जाता है—तात्विक, पारलौकिक और ऐहिक अथवा व्यावहारिक। यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो धर्म वह वस्तु है, जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप को धारण करती है और जिससे शून्य होकर प्रत्येक वस्तु अपने आपको धारण नहीं कर सकती है। इसका तात्पर्य यह है कि स्वभाव ही धर्म है। इन सबसे स्पष्ट है कि धर्म अपरिवर्तनीय है। जैसे अग्नि का धर्म दाहकता है जो सर्वथा अपरिवर्तनीय तत्व है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस तत्व से विश्व आत्मरूप धारण किये हुए है वह तत्व ही समस्त विश्व का धर्म है। शरीर (पिण्ड) का धारण शरीरगत (पिण्डगत) चेतना से है, इसी प्रकार विश्व का धारण विश्वगत (विश्वव्याप्त) चेतना (चैतन्य) से है। कहा जाता है कि यही विश्वव्याप्त चैतन्य विश्व का धर्म है जिसकी अनुभूति ही रहस्यानुभूति है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि तात्विक दृष्टि से रहस्यानुभूति एवं धर्मानुभूति में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु मूल धर्मात्मक तत्व के अनुभव साधनों के अर्थ में धर्म शब्द क्रमशः संकुचित और अविस्तृत होता चला गया। ऐसी स्थिति में धर्म से रहस्य की एकरूपता पर अनेकानेक प्रश्नचिह्न लगाये गये। पारलौकिक और ऐहिक दृष्टियों से ऐसे ही अर्थों को संकेतित किया गया है। ऐहिक दृष्टि से अथवा सामाजिक या व्यावहारिक दृष्टि से उन तत्वों के विशेष अथवा सामान्य रूपों को धर्म कहा जाता है, जो विश्व अथवा समाज का विधारण करते हैं। उस तत्व के सामान्य रूप को वैदिक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऋषियों ने 'ऋत' कहा है। पाश्चात्य चिन्तकों ने भी धर्म के इस रूप पर विचार किया है। पारलौकिक दृष्टि से अभ्युदय एवं निःश्रेयस् के साधनों को धर्म कहा जाता है। ऊपर के विवेचनों से स्पष्ट है कि अपने तात्विक रूप में यह धर्म अपरिवर्तनशील है, परन्तु व्यावहारिक अथवा अन्य रूपों में यह धर्म परिवर्तनीय है।[18]

रहस्यवाद की परिभाषाएँ

रहस्यवाद के सामान्य परिचय के अंतर्गत किये गये रहस्यवाद शब्द पर उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि मिस्टिसिज्म (रहस्यवाद) का प्रयोग सामान्यतः दो अर्थों में होता है—(1) ईश्वर के साथ साक्षात् समागम का प्रत्यक्षानुभव और (2) निरपेक्ष सत्ता अर्थात् ईश्वर के साथ आत्मा के संभव ऐक्य का धर्मशास्त्रीय-तत्व वैज्ञानिक सिद्धान्त। इनमें से दूसरे अर्थ के लिए रहस्यवाद को सीमित रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार ईश्वर के साथ साक्षात् समागम के लिए .रहस्यानुभव (मिस्टिकल इक्सपीरियेंस) का प्रयोग अधिक उचित प्रतीत होता है। रहस्यानुभव एक ऐसी चेतना के आविर्भाव द्वारा सूचित होता है जो विषयी और विषय (सब्जेक्ट-आब्जेक्ट) के रूप में विभक्त नहीं होता। इस अवस्था में विषयी और विषय दोनों ही एक दूसरे में अविभाज्य भाव से मिले-जुले रहते हैं। इन क्षणों में जो कुछ भी देखा, सुना अथवा अनुभव किया जाता है, वह आन्तरिक जीवन के आवेग पूर्ण प्रवाह से परिपूर्ण रहता है। मानस की अत्यधिक गहराई में छिपी रहने वाली मनुष्य की शक्तियाँ, जो साधारणतः क्रियाशील नहीं रहतीं, अकस्मात् उन्मुक्त हो जाती हैं। सामान्य पृथक्करण की वे क्रियाएँ जो हमारे आन्तरिक जीवन को अलग-अलग शिविरों की तरह विभक्त कर देती हैं, समाप्त होती प्रतीत होती हैं और तब संपूर्ण जीव-जगत स्वयं को एक अविकल और अविभक्त अनुभव की स्थिति में पाता है। इतना ही नहीं, प्रत्युत् सर्वातीत शक्तियाँ व्यक्ति-आत्मा को विजित करती सी प्रतीत होती हैं। इन्हें जे०ए० स्टुअर्ट ने 'ट्रांसेंडेंट कांशसनेस' (सर्वातीत चेतना) कहा है जो विभिन्न महत् क्षेत्रों, रूपों, मार्गों एवं गहराइयों में प्रकट होती हैं। सुंदरता अथवा अत्युदात्तता का अत्युच्च साक्षात्कार, संगीत में विलीन आनंदानुभव, प्रकृति के साथ परम प्रशान्त सौख्य, किसी सत्य के अर्थ में अकस्मात् अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति, प्रेम का जागरण, कर्त्तव्यानुगमन में जीवन का नैतिक उत्थान आदि कुछ इस प्रकार के अनुभव हैं जो असीम भाव से ज्ञान का अतिक्रमण करते हैं अथवा उससे परे होते हैं। ये ऐसे अनुभव हैं जिनमें विषयी और विषय (सब्जेक्ट और आब्जेक्ट) दोनों ही एक दूसरे में अविभाज्य भाव से विमिश्रित हो जाते हैं तथा जिनमें आत्मा अपने विषय से साक्षात्कार कर लेती हैं।[19] दूसरी ओर रहस्यवाद अपने संकुचित और ऐतिहासिक वैशिष्ट्य में परमात्मा (पूर्ण, दि एब्सूल्यूट) से एकात्म का सिद्धान्त है। इस सिद्धांत के अंतर्गत परमात्मा और जीवात्मा का एक तत्ववैज्ञानिक स्वरूप भी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अंतर्निहित है। इससे वह रहस्य मार्ग भी सूचित होता है जिसके द्वारा पूर्ण परब्रह्म परमात्मा के साथ तदाकारता प्राप्त की जा सकती है। इस परमात्मा का जो स्वरूप कल्पित है, उसमें वह परमात्मा निरपेक्ष सत्तायुक्त, शुद्ध सत्व, पूर्ण रूप भूततत्वों के मिश्रणों से सर्वथा मुक्त, एक, नित्य, सुस्थिर, अपरिवर्तनशील, मन की परिवर्तनशील अवस्थाओं में तथा संसार के ससीम परिवर्तनशील पदार्थों में अनुपलभ्य, देशकालातीत, नाम-रूप-ज्ञेय-दृश्य आदि सभी से अतीत माना गया है।[20]

रहस्यवाद मानव मन का वह प्रयत्न है जिसके द्वारा वह दिव्य सत्तत्व अथवा संसार की वस्तुओं के चरमसत्य का साक्षात्कार करता है। साथ ही रहस्यवाद उस परमोच्च सत्ता के साथ वास्तविक संयोग के आनंदास्वादन का मानव मन का प्रयत्न है। इसमें यदि प्रथम अंश रहस्यवाद के दार्शनिक पक्ष की ओर संकेत करता है तो दूसरा अंश उसके व्यावहारिक पक्ष की ओर। प्रथम प्रयास सैद्धान्तिक एवं चिन्तनपरक है और दूसरा प्रयास व्यावहारिक अथवा क्रियात्मक है। रहस्यवादी सबसे अधिक सघन भाव से उस एक, परमोच्च, सर्वव्यापक, अन्तर्यामी शक्ति में विश्वास करता है जिसमें सभी वस्तुएँ एकमेक होकर रहती हैं। इसी प्रकार रहस्यवाद के चिन्तन प्रधान कथन सर्वदा ही प्रकृतितः समधिक विश्वदेववादी होते हैं। व्यावहारिक पक्ष के अन्तर्गत रहस्यवाद उस परमात्मा के साथ जीवात्मा के प्रत्यक्ष समागम की संभावना की बात करता है। यह संयोग बाह्य माध्यम (एक्सटर्नल मीडिया), जैसे-ऐतिहासिक प्रकटीकरण, चामत्कारिक कथन, प्रार्थना के उत्तर आदि, से संभव नहीं होता, अपितु यह एक प्रकार के अभिन्नत्व से साधित होता है जिसमें व्यक्ति सत्यतः परमात्मप्रकृति का अंशभोगी हो जाता है। इस स्थिति में ईश्वर उसके लिए कोई एक विषय नहीं होता है, अपितु एक अनुभव रूप हो जाता है।[21] परन्तु रहस्यवाद एक अर्थ में सामान्य विश्वदेववाद से भी भिन्न है। विश्वदेववाद की प्रवृत्ति धार्मिक होती है। व्यावहारिकता धर्म के लिए एक प्रमुख समस्या होती है और धर्म इसीलिए अपने सिद्धान्तों का विकास नैतिक संदर्भ में करता है। दूसरी ओर रहस्यवाद की प्रमुख प्रवृत्ति चिन्तनपरक होती है। रहस्यवाद की शुरुआत दिव्य प्रकृति से होती है, धर्म के समान उसकी शुरुआत मानव और उसके वातावरण से नहीं होती है। रहस्यवाद धार्मिक भावों के प्रतीकवाद को वाच्यार्थ रूप में अथवा तत्वज्ञान की दृष्टि से सत्य मानकर अपनाता है। इस प्रकार रहस्यवाद विलक्षण योग के लिए प्रयत्नशील रहता है।[22]

मात्र एक मतवाद के लिए ही रहस्यवाद शब्द प्रयुक्त नहीं होता है। वस्तुतः रहस्यवाद विविध विचारसरणियों एवं भावनाओं के विकास के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है। प्रायः ऐतिहासिक रूप में रहस्यवाद एक विशेष मत-विश्वास के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है जो स्थूल के विरुद्ध चेतना की प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत होता है।[23]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहस्यवाद को परिभाषित करना पहेली बुझाने के सदृश है। जिस प्रकार परमात्मा के स्वरूप की व्याख्या करना अति दुष्कर एवं गुह्य है, उसी प्रकार रहस्यवाद की परिभाषा स्थिर करना भी रहस्यपूर्ण है। रहस्यवाद की जितनी भी परिभाषाएँ दी गयी हैं उनमें से कुछ मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित हैं, तो कुछ आचार-दर्शन के अनुसार अथवा जीवन-पद्धति को ध्यान में रखकर प्रस्तुत की गयी हैं। इसी प्रकार कुछ परिभाषाएँ साधनापरक दृष्टिकोण से बनायी गयी है। मनोवैज्ञानिक आधार पर निर्मित परिभाषाओं में रहस्यवाद को या तो केवल एक चेतना के रूप में अथवा केवल एक संवेदन के रूप में विवेचित किया गया है। इसी प्रकार रहस्यवाद को किसी अनुभूति की कोटि में अथवा मनोवृत्ति के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। नेटलशिप ने रहस्यवाद को चेतना के रूप में परिभाषित किया है। रहस्यवाद को संवेदन के रूप में विवेचित करने वालों में फ्लेइडरर एवं बर्ट्रेंड रसेल के नाम लिए जा सकते हैं। इसी प्रकार विलियम जेम्स, लामा अनागरिक गोविंद, प्रभृति लेखकों ने रहस्यवाद को अनुभूति की कोटि में रखा है, तो एडवर्ड केयर्ड, आर०डी० रानडे, सी०एफ०ई० स्पर्जन आदि लेखक उसे मनोवृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं।[24] आर०एल० नेटलशिप के अनुसार रहस्यवाद एक ऐसी चेतना है जिसमें अनुभव में आयी प्रत्येक वस्तु एक तत्व है और वस्तुतः केवल एक तत्व ही है। यह वस्तु अपने स्वरूप से अधिक किसी वृहत्तर को प्रतीकीकृत करती है। यह बोध ही सच्चा रहस्यवाद है।[25] फ्लेइडरर नाम के लेखक ने रहस्यवाद को संवेदन मात्र के चित्र के रूप में अंकित करते हुए लिखा है—रहस्यवाद ईश्वर के साथ आत्मा की एकता का स्पष्ट संवेदन है। यह अपने मूल रूप में केवल धर्मविषयक एक संवेदन मात्र है, यह एक पवित्र संवेदनपूर्ण जीवन में प्रवेश है तथा वहाँ पर उसके एकांत अंतर्वर्तित्व में अपना कोई चिरस्थायी निवासस्थान बनाना है।[26]

एडवर्ड केयर्ड की दृष्टि में रहस्यवाद धर्म का सर्वाधिक सारभूत और सर्वबहिष्कारी रूप है। साथ ही रहस्यवाद चित्त की वह मनोवृत्ति विशेष है जिसमें ईश्वर के प्रति आत्मा के संबंध के अर्न्तगत अन्य सारे संबंध विलीन हो जाते हैं।[27]

इसे डॉ० रानडे, आर०डी०, ने इस प्रकार बतलाया है।—("Mysticism denotes that attitude of mind which involves a direct, immediate, intuitive apprehension of god.") रहस्यवाद उस मनोवृत्ति को सूचित करता है जिसमें ईश्वर का अव्यवहित एवं प्रत्यक्ष प्रातिभ ज्ञान होता है। डॉ० रानडे ने अन्यत्र स्वानुभूति भी इसकी एक विशेषता बतायी है जिसमें किसी भी अन्य माध्यम का सर्वथा अभाव रहता है।[28] सी०एफ०ई० स्पर्जन ने भी रहस्यवाद को परिभाषित किया है—''वास्तव में रहस्यवाद कोई धार्मिक मत न होकर एक स्वभाव विशेष है और कोई दार्शनिक पद्धति न होकर एक वातावरण विशेष है।'' पं० चतुर्वेदी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के अनुसार इस परिभाषा में मनोवृत्ति की अधिक व्यापकता का बोध होता है। मनोवृत्ति शब्द से किसी साधारण मनोदशा का बोध होता है और 'स्वभाव' शब्द से उक्त मनोदशा में स्थायित्व आ जाता है। साथ ही इस परिभाषा में रहस्यवाद को किसी भी धर्मिक मत अथवा दार्शनिक पद्धति के स्रोतों तक ही सीमित नहीं रखा गया है। फिर भी पं० चतुर्वेदी की दृष्टि में यह परिभाषा भी अधूरी है।[29]

रहस्यवाद की प्रसिद्ध विदुषी कुमारी एवलिन अंडरहिल ने रहस्यवाद सम्बन्धी विशेषताओं के विवेचन के अंत में उसका निष्कर्ष दिया है जो रहस्यवाद की परिभाषा के रूप में प्रस्तुत की जा सकती है—रहस्यवाद उन्नत और पूर्ण जीवन के लिए अत्युच्च विशेषीकृत सत्यान्वेषण है और यह मानवचेतना की नित्य प्रकृति है।[30] इस परिभाषा का विषय किसी मनोदशा की कोटि तक ही सीमित नहीं रह जाता है, प्रत्युत उसमें कुछ क्रियात्मकता भी लक्षित होती है। इसी बात को एक दूसरे लेखक प्रिंगल पैटिसन ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—रहस्यवाद दिव्य सत्व अथवा पदार्थों के परमसत्य के ग्रहण तथा परमोच्च तत्व के साथ होने वाले यथार्थ संयोग के आनन्द के आभोग के लिए किया गया मानव चित्त का उद्योग है। इनमें से प्रथम रहस्यवाद का दार्शनिक पक्ष है और दूसरा उसका धार्मिक पक्ष। यहाँ ईश्वर केवल एक बाह्य वस्तु न रहकर अनुभूति रूप हो जाता है।[31]

अलबर्ट स्वीजर ने रहस्यवाद के संबंध में एक महत्वपूर्ण बात की है । उनका कहना है कि संपूर्ण रहस्यवाद इस विचार को मान्यता देता है कि आत्मा सत्यतः जगत से मुक्त रहती है। रहस्यवाद साक्षात्कार है, स्तवन है और जगत से स्वभावतः प्राप्त मोक्ष की स्थिति का प्रकाशन है। यह उस स्थिति की उपलब्धि के लिए किया गया संघर्ष अथवा प्रयास नहीं है। यहाँ रहस्यवाद के अन्तर्गत उन साधनाओं की गणना करने की बात कही गयी है जो स्वभावतः अथवा अपने प्रातिभ ज्ञान द्वारा प्राप्त अनुभूतियों को दृढ़ करने के लिए अथवा उन्हें व्यावहारिकता प्रदान करने के लिए की जा सकती है।[32] डब्ल्यू०ई० हाकिंग के अनुसार, "रहस्यवाद ईश्वर के साथ व्यवहार करने का एक मार्ग है", (मिस्टिसिज्म इज ए वे आफ डीलिंग विथ गाड)। इस परिभाषा से रहस्यवाद किसी एक धार्मिक पद्धति के रूप में मर्यादित हो जाता है।[33] डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार ने लिखा है—सत्य के रूप में उपलब्ध तत्व का प्रत्यक्ष बोध रहस्यवाद है। दर्शन और विज्ञान अनुभवों एवं पदार्थों के विश्लेषण द्वारा सत्य का अन्वेषण करते हैं तथा रहस्यवाद सत्य का अन्वेषण आत्मा की आंतरिक उड़ान द्वारा करता है। इसका प्रत्यक्ष बोध ही इसको उच्चत्तर स्तर पर ले जाता है। रहस्यानुभव के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह स्वयंसिद्ध एवं अपने आप में ही पर्याप्त है। रहस्यानुभव अपने को प्रमाणित करने के लिए अपने अतिरिक्त अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखता।[34]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने रहस्यवाद की कई परिभाषाओं पर विचार कर बताया है कि चार्ल्स ए० बेनेट एवं डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त की परिभाषाएँ अधिक स्पष्ट एवं व्यापक हैं। बेनेट के अनुसार रहस्यवाद से कभी-भी उस तत्व वैज्ञानिक सिद्धान्त से युक्त चिन्तनात्मक रहस्यवाद का अर्थ लिया जाता है जो परम दैवत की सूक्ष्म एकता की घोषणा करने के साथ ही उसमें विद्यमान जीवात्मा और ससीम पदार्थों के पार्थक्य के उन्मूलन की भी घोषणा करता है। किसी ऐसे सिद्धान्त से हमारा संबंध नहीं है, हम रहस्यवाद को जीवन की एक ऐसी पद्धति के रूप में देखते हैं जिसका प्रमुख अंग ईश्वर का अव्यवहित अनुभव कहा जा सकता है। इसका प्रतिनधित्व करने वालों में प्लोटिनस एवं टेरेसा जैसे रहस्यवादियों का नाम भी बेनेट ने लिया है।[35] डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने लिखा है—रहस्यवाद कोई बौद्धिक वाद नहीं है। यह मूलतः एक सक्रिय, रचनात्मक, सर्जक, उन्नायक तथा उत्कर्षप्रद जीवन सिद्धान्त है।.....इसका अभिप्राय जीवन के उद्देश्यों तथा उसके प्रश्नों को, उससे कहीं अधिक वास्तविक और अंतिम, आध्यात्मिक रूप में ग्रहण कर लेना है जितना, शुष्क तर्क की दृष्टि से कभी संभव नहीं हो सकता।.....विकासशील रहस्यवादी जीवन का अर्थ है आध्यात्मिक मूल्य, अनुभव तथा आदर्शों के अनुसार क्रमिक सोपान द्वारा आरोहण। इस प्रकार यह अपने विकास में बहुमुखी है और स्वयं जीवन जैसा ही पूर्ण और समृद्ध है। इस दृष्टिकोण से देखने पर रहस्यवाद सभी धर्मों का मूलाधार बन जाता है।[36] यहाँ डॉ० दासगुप्त ने रहस्यवाद की परिभाषा के साथ ही रहस्यवाद के उद्देश्य, उसके मूलस्रोत, उसके स्वरूप, उसकी कार्यपद्धति एवं आदर्श को भी स्पष्ट कर दिया है। लेकिन ऐसा नहीं प्रतीत होता कि इस विवेचनात्मक परिभाषा के अन्तर्गत रहस्यात्मक भावना का समावेश किया गया है। पं० चतुर्वेदी की दृष्टि में यहाँ 'रहस्य' शब्द की रहस्यात्मकता अविवेचित रह गयी है।[37]

डॉ० दासगुप्त ने 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में ही एक अन्य पृष्ठ पर लिखा है कि मैं रहस्यवाद को एक ऐसे सिद्धान्त, मत या विचार के रूप में परिभाषित करना चाहूँगा जो बुद्धि को परमसत्ता का स्वरूप, भले ही उस परमसत्ता का स्वरूप कुछ भी हो, समझने या अनुभव करने में असमर्थ मानता है। किन्तु साथ ही वह उस चरम सत्ता तक पहुँचने के लिए किसी अन्य साधन की अमोघता में भी विश्वास रखता है।[38] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने रहस्यवाद की अनेक परिभाषाओं पर विचार करने के उपरान्त अपनी परिभाषा इस प्रकार दी है—"रहस्यवाद एक ऐसा जीवन दर्शन है जिसका मूल आधार किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट वा निर्विशेष एकता या परमात्म-तत्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है और जिसके अनुसार किये जाने वाले उसके व्यवहार का स्वरूप स्वभावतः विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख भी हो जा सकता है।" इस परिभाषा का विश्लेषण करने पर पाँच प्रकरण सामने आते हैं—(1) रहस्यवाद को किसी एक जीवनदर्शन के रूप में स्वीकार करना, (2) विश्वात्मक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्ता की अनिर्दिष्ट या निर्विशेष एकता अथवा परमतत्व के स्वरूप को किसी न किसी प्रकार निर्धारित करना, (3) उसकी अर्थात् परम तत्व की प्रत्यक्ष अनुभूति का परिचय देना, (4) ऐसे अनुभव की अनिर्वचनीयता पर विचार करना, (5) वैसे रहस्यवादी व्यक्ति के व्यवहार का निरूपण करते हुए उसकी समुचित व्याख्या करना।[39]

रहस्यवाद की अन्य परिभाषाएँ भी विचारणीय है। डब्ल्यू.आर. इंज के अनुसार रहस्यवाद का तात्पर्य है ईश्वर के साथ समागम अर्थात् सर्वोच्च और चरम सत्य के रूप में अभिव्यक्त ईश्वर के साथ समागम।[40] उनके मतानुसार रहस्यवादी के प्रमुख लक्षणों में से एक है—संकल्प का एकाग्रचित होना। इंज ने पुनः स्वीकार किया है कि रहस्यवाद अपने कार्य की अभिव्यक्ति बौद्धिक कल्पना में नहीं करता है, प्रत्युत प्रार्थना में प्राप्त करता है।[41] इंज के कथन पर विचार करने से ज्ञात होता है कि वे रहस्यवाद के भक्तिपक्ष के अनुयायी हैं। उन्होंने ज्ञान में रहस्यवाद का चरम उत्कर्ष स्वीकार नहीं किया। भावना प्राधान्य के साथ-साथ ज्ञान को गौण स्थान प्रदान किया है। परन्तु वास्तविक रहस्यवाद में ज्ञान, भावना एवं इच्छाशक्ति तीनों पर ही समान बल दिया जाता है''।[42] इस प्रकार कहा जा सकता है कि इंज भक्तिपरक रहस्यवाद के समर्थक प्रतीत होते हैं। बौद्धिक चिंतन आदि को उन्होंने प्रधानता नहीं दी है।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद को इस प्रकार परिभाषित किया है—''रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है, यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अंतर नहीं रह जाता। जीवात्मा की शक्तियाँ इसी शक्ति के अनंत वैभव और प्रभाव से ओत-प्रोत हो जाती हैं। जीवन में केवल उसी दिव्यशक्ति का अंनन्त तेज अंतर्हित हो जाता है और जीवात्मा अपने अस्तित्व को एक प्रकार से भूल-सी जाती है। एक भावना, एक वासना ह्रदय में प्रभुत्व प्राप्त कर लेती है और वह भावना सदैव जीवन के अंग-प्रत्यंगों में प्रकाशित होती है। यही दिव्य संयोग है। आत्मा उस दिव्य शक्ति से इस प्रकार मिल जाती है कि आत्मा में परमात्मा के गुणों का प्रदर्शन होने लगता है और परमात्मा में आत्मा के गुणों का प्रदर्शन''।[43]

विविध प्रकार से विचार करने के पश्चात् डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने इस प्रकार रहस्यवाद को परिभाषित किया है—''रहस्यवाद रहस्यदर्शियों का वह सांकेतिक कथन या वाद है–जिसके मूल में अखण्डानुभूति और तत्वानुभूति निहित है। इस प्रकार रहस्यदर्शियों के इस वदन या वाद का विषय 'मूलतत्व' भी हो सकता है और तत्वोपलब्धि की प्रक्रिया भी। इसके साथ-साथ अन्यान्य आंतरात्मिक रहस्यमयी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी अभिव्यक्ति पा सकती हैं। फलतः रहस्यवाद की सीमा में ये तीनों पक्ष प्रमुख रूप से विवेच्य हैं''।[44] इस प्रकार रहस्यवाद के तीन पक्ष हैं—मूलतत्व, उसकी उपलब्धि की प्रक्रिया तथा अन्याय आन्तरात्मिक रहस्यमयी आध्यात्मिक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुभूतियाँ। उपर्युक्त परिभाषा में आये हुए शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हैं जिनका उल्लेख भी जरूरी है। उक्त परिभाषा के अन्तर्गत 'रहस्यवाद' में 'रहस्य' और 'वाद' दो स्वतंत्र शब्दों का योग स्वीकार किया गया है। रहस्य शब्द का अर्थ है–चरमचिन्मय तत्व जो रहस्यदर्शियों के अनुसार अबुद्धिबोध्य है अर्थात् बुद्धि से परे है (बुद्धेस्तु परतः)। लेकिन जो कुछ भी अबुद्धिबोध्य है वह रहस्य की सीमा के अन्तर्गत ग्राह्य नहीं है। लाक्षणिक रूप में रहस्यदर्शियों के कथनानुसार कहा जा सकता है कि वे तत्वदर्शनोपयोगी साधन भी रहस्य के रूप में स्वीकार किये जाते हैं जो बुद्धिबोध्य होते हुए भी गोपनीय माने गये हैं। साथ ही ये साधन और प्रक्रियायें रहसिभव हैं, इसीलिए रहस्य मानी गयी हैं। मूलतत्व, उसकी प्राप्ति-प्रक्रिया के साथ अध्यात्म मात्र के कतिपय आंतरात्मिक अनुभव रहस्य माने गये हैं। इतना ही नहीं, रहस्यदर्शियों की कृतियों में जो अनेक आध्यात्मिक ठहराव मिलते हैं, वे सर्वसामान्य कें लिए रहस्य हैं। इस प्रकार जो स्वभावतः रहस्य (अबुद्धिबोध्य) है वहीं रहस्य नहीं है, प्रत्युत जो स्पष्ट होने पर भी गोपनीय रखा जाता है वह भी रहस्य है। 'वाद' शब्द जिसके मूल में अखंड अनुभूति एवं तत्वदर्शन अंतर्निहित है, का प्रयोग आग्रहरहित, भ्रांतिरहित, पुर्णतोन्मुखी और तात्विक कथन के अर्थ में किया गया है। भारतीय परंपरा में वाद शब्द तत्वोन्मुखी विचारप्रणाली के लिए रूढ़ हो गया है, लेकिन इस परिभाषा में वह केवल अनुभव-प्रकाशक कथन के रूप में प्रयुक्त है। उक्त अनुभव-प्रकाशन विचारोन्मुखी एवं भावोन्मुखी दोनों ही हो सकता है। यह 'वाद' या 'कथन' अपनी सीमित शक्ति द्वारा ही असीम का प्रकाशन कर सकता है।[45]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रहस्यवाद रहस्यदर्शियों का ऐसा सिद्धांत अथवा सांकेतिक कथन प्रणाली है जिसके अनुसार परमसत्ता अर्थात् चरमचिन्मय तत्व का स्वरूप अबुद्धिबोध्य है और जिसके मूल में अखंडानुभूति एवं तत्वानुभूति निहित है तथा साथ ही जो चरमसत्ता तक पहुँचने के लिए किसी अबौद्धिक अमोघ साधन की बात करता है। इस प्रकार रहस्यवाद में परमतत्व एवं उसकी प्राप्ति-प्रक्रिया के विवेचन के साथ आंतरात्मिक आध्यात्मिक रहस्यमयी अनुभूतियाँ भी विवेचित होती हैं। रहस्यवाद में एक ऐसी मनोवृत्ति बन जाती है जिसमें परमसत्य का साक्षात्कार प्रत्यक्ष, अबाधित, अभिनव एवं कारणेतर प्रेरणा सें समन्वित होता है। साथ ही उसमें परमसत्य के साक्षात्कार की प्रक्रिया एवं अन्यान्य अखंड आंतरिक अनुभूतियाँ भी वर्णित होती हैं। इन परिभाषाओं की विश्लेषणात्मक परीक्षा करने से यह स्पष्ट होता है कि सामान्यतः परिभाषाओं के लक्षणों से ये संपन्न नहीं हैं। परिभाषा में साम्यवैषम्य परक विभेदात्मक वैशिष्ट्य के साथ ही सर्वांग निर्देशक सांकेतिकता अवश्य होनी चाहिए जिससे परिभाषा से ही पूरा स्वरूप सामने आ सके। इसीलिए एक नयी परिभाषा की आवश्यकता प्रतीत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होती है। उपर्युक्त लक्षणों को ध्यान में रखकर रहस्यवाद की एक परिभाषा निम्नरूप में प्रस्तुत की जा सकती है–

रहस्यवाद सर्वव्यापक, सर्वातीत, सत्य-शिव-सुंदर, सच्चिदानन्दरूप, पूर्ण एवं नित्य, विश्वात्मक, परमात्मसत्ता के साथ होने वाले अनिर्वचनीय, अद्वयात्मक ऐक्य अथवा विशिष्ट पूर्णजीवन के हेतु चरमसत्यान्वेषण के लिए किये गये अतीन्द्रिय एवं अद्वयात्मक प्रातिभ साक्षात्कार की स्वानुभूति से संपन्न मानवचेतना अथवा मनोवृत्ति का आन्तरिक, आचार प्रधान, अनुशासनसंपन्न, उन्नायक, रचनात्मक, हार्दिक, संवेगात्मक, विवेकपूर्ण, अबुद्धिबोध्य, शास्त्रनिरपेक्ष, तर्कमुक्त साधन एवं जीवनदर्शन है जिसकी अभिव्यक्ति सांकेतिक, प्रतीकात्मक एवं पौराणिक शैली के माध्यम से साहित्य में संभव हो पाती है।

इस परिभाषा में साध्य, साधक एवं साधन, अनुभूति, सिद्धान्त और अभिव्यक्ति के साथ ही उसके मनोविज्ञान एवं आचारविज्ञान को भी ध्यान में रखते हुए उसके अभिव्यक्ति वैशिष्ट्य को भी प्रस्तुत किया गया है। रहस्यवाद का साध्य शुद्ध ज्ञानी के ज्ञेय से भिन्न है। उसका साधक भी अन्ततः अपनी सिद्धावस्था में साध्य के अनेक गुणों, विशेषताओं और क्रियाओं का अंशभोगी हो जाता है। प्रायः अद्वयात्मकता की स्थिति में उसे यह उपलब्धि होती है। इस प्रकार की उपलब्धि के लिए रहस्यवादी साधक के प्रमुखतम साधनोपाय, उसकी मनोवृत्ति, उसके संवेग, उसकी चेतना, हार्दिक शक्ति आदि हैं। शरीर पक्ष गौण है। उसके ये साधनोपाय, उसकी उपलब्धियाँ, अनुभूतियाँ भी रचनात्मक, उन्नायक ही होती हैं। इनके अतिरिक्त उसकी अनुभूतियाँ स्वानुभूति ही होती हैं और साथ ही अतीन्द्रिय और प्रातिभ होती हैं जिसमें किसी बाह्य माध्यम की तनिक भी अपेक्षा नहीं होती। साध्य के स्वरूप निर्णय में, लक्ष्य और दिशा के निर्वाच में संपूर्ण विश्व के रहस्यवादी साहित्य के आधार पर कुछ मूलभूत सामान्य सिद्धान्त स्थिर हो गये हैं जिनके आधार पर साध्य के स्वरूप और साधक की जीवन पद्धति के कुछ निर्देशक सिद्धान्तों का निश्चय होता है जिनसे रहस्वाद की कुछ विभेदात्मक विशेषताएँ प्रकट होती हैं। इसका अभिव्यक्तिपक्ष भी सामान्य लौकिक काव्य की अभिव्यक्ति पद्धति से विशिष्ट होता है। सब मिलाकर ऊपर प्रस्तुत की गयी परिभाषा पूर्वोक्त सभी परिभाषाओं के प्रमुख तत्वों और विशेषताओं के संकलन एवं संयोजन से प्रस्तुत की गयी है और इसीलिए विस्तृत होती हुई भी अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और सर्वाश्रयी है । आगे का विवेचन इस परिभाषा के ही आधार पर किया जायेगा।

रहस्यवाद का स्वरूप और तत्व

कई विद्वानों की दृष्टि से रहस्यवाद को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। कुछ विद्वानों ने उसे एक जीवन-दर्शन के रूप में अथवा एक सिद्धांत के रूप में विवेचित किया है। रहस्यवाद ईश्वर के साथ साक्षात् समागम का प्रत्यक्षानुभव है अथवा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

निरपेक्ष सत्ता (ईश्वर) के साथ आत्मा के संभव ऐक्य का धर्मशास्त्रीय तत्ववैज्ञानिक सिद्धान्त है। रहस्यवाद अपने संकुचित और ऐतिहासिक वैशिष्ट्य में परमात्मा से एकात्म का सिद्धान्त है जिसके अन्तर्गत जीवात्मा और परमात्मा का एक तत्ववैज्ञानिक स्वरूप भी अंतर्निहित है। इस सिद्धान्त से उस रहस्यमार्ग का भी पता चलता है जिसके द्वारा पूर्ण परमब्रह्म परमात्मा के साथ तदाकारता प्राप्त की जा सकती है। यह परमात्मा निरपेक्ष सत्तायुक्त, शुद्धसत्व, पूर्णरूप, भूत तत्वों के मिश्रणों से सर्वथा मुक्त, एक नित्य, सुस्थिर, अपरिवर्तनशील, मन की परिवर्तन-शील अवस्थाओं में एवं संसार के ससीम परिवर्तनशील पदार्थों में अनुपलभ्य, देशकालातीत, नाम-रूप-ज्ञेय-दृश्य आदि सभी से, अतीत माना गया है । दार्शनिक पक्ष की दृष्टि से रहस्यवाद मानव मन का वह प्रयत्न है जिसके द्वारा वह दिव्य सत्तत्त्व अथवा संसार की वस्तुओं के चरमसत्य का साक्षात्कार करता है। यह पक्ष सैद्धान्तिक एवं चिन्तनपरक है। व्यावहारिक दृष्टि से रहस्यवाद उस परमोच्च सत्ता के साथ वास्तविक संयोग के आनन्दानुभव का मानव मन का प्रयत्न है। यह रहस्यवाद का क्रियात्मक पक्ष है।

रहस्यवाद शब्द मात्र एक मतवाद के लिए प्रयुक्त नहीं होता है। वस्तुतः वह विविध विचारसरणियों एवं भावनाओं के विकास के लिए भी प्रयुक्त होता है। प्रायः रहस्यवाद ऐतिहासिक रूप में एक विशेष मतविश्वास के लिए भी प्रयोग में लाया जाता है।

रहस्यवाद अबुद्धिबोध्य अव्यक्त सत्ता की अनुभूति है। उक्त अनुभूति को अपने मूल रूप में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। रहस्यवाद के अन्तर्गत जादू-टोना, तन्त्र-मंत्र, इन्द्रजाल आदि सबका अंतर्भाव हो जाता है अर्थात् रहस्य के अन्तर्गत गुह्यता और गोपनीयता की जो भावना मिलती है वह जादू विद्या के साधकों में भी विद्यमान है। जादू विद्या एवं रहस्यवाद के मार्ग एवं लक्ष्य भिन्न-भिन्न हैं। जादू विद्या कुछ पाना चाहती है और रहस्यवाद कुछ देना चाहता है। जादू विद्या के प्रयोग अधिकतर स्वयं वैयक्तिक रूप में शक्तिशाली बनने के लिए किये जाते हैं जिससे अभीष्ट की प्राप्ति हो सके। रहस्यवाद का साधक तो परमसत्ता के प्रति स्वयं को समर्पित कर देना चाहता है। इन उपर्युक्त तथ्यों का मैंने पहले विवेचन किया है। यह भी बताया गया है कि रहस्यवाद की स्थिति उन्माद, हिस्टीरिया, मानसिक रोग आदि से भिन्न है। इन रोगों की दशा में अथवा मादक वस्तुओं के सेवन की स्थिति में कुछ मनोविकार दीख पड़ते हैं जो रहस्यवाद के साधक के समान लक्षण वाले होते हैं। लेकिन यह सादृश्य बाह्य होता है। वस्तुतः मानसिक रोग अथवा औषधि प्रयोग की दशा में केवल कुछ क्षणिक भौतिक मनोविकार उत्पन्न होते हैं, जब कि रहस्यवाद के साधक के जीवन में आचारगत उदात्तता भी दिखायी पड़ती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

धर्म अपने मौलिक रूप में रहस्यवाद से अभिन्न है। "आत्मा को उन्नत बनाने वाले आचरणों को ही धर्म कहा जाता है। धर्म उसी का नाम है, जो उन्नति की ओर ले जाय। धर्म का लक्षण करते हुए कणाद ने स्पष्ट कर दिया है कि—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयसः सिद्धिः स धर्मः', अर्थात् जो क्रमशः उन्नत करता हुआ चरम उन्नति तक ले जाय, वही धर्म है। वह उन्नति न केवल संसार की ही है, परन्तु उसके साथ-साथ आत्मा की चरम उन्नति है, अर्थात् मोक्ष भी धर्म के द्वारा ही होता है।"[46]

वस्तुतः स्वभाव ही धर्म है अर्थात् धर्म वह वस्तु है जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप को धारण करती है और जिससे शून्य होकर प्रत्येक वस्तु अपने आपको धारण नहीं कर सकती। इस प्रकार धर्म अपरिवर्तनीय है। जैसे अग्नि का धर्म दाहकता है जो सर्वथा अपरिवर्तन-शील तत्व है। जिस तत्व से विश्व आत्मरूप धारण किए हुए है, वह तत्व ही समस्त विश्व का धर्म है। विश्व का धारण विश्वव्याप्त चेतना से है। यही विश्वव्याप्त चेतना विश्व का धर्म है जिसकी अनुभति ही रहस्यानुभूति है। इस प्रकार तत्वतः धर्मानुभूति और रहस्यानुभूति अभिन्न है। धर्म अपने मौलिक रूप में ही किसी जीवन-दर्शन का पर्याय बनता है। यदि धर्म को अपने मौलिक रूप में अथवा जीवन-दर्शन के रूप में अंगीकृत किया जाय, तो उक्त धर्म को रहस्यंवाद की कोटि में रखा जा सकता है।

रहस्यवाद को आचारप्रधान अनुशासन अथवा किसी जीवनपद्धति के रूप में भी देखा गया है। रहस्यवाद को आचारप्रधान अनुशासन मान लेने से ऐसा लगता है कि वह जीवन के लिए निर्दिष्ट की गयी दैनिक नियमावली मात्र है। यों इस मत से रहस्यवाद व्यवहार के क्षेत्र में आ जाता है। वस्तुतः रहस्यवाद के वास्तविक रूप को पहचानने के लिए हमें इस बात पर विचार करना चाहिए कि मानव-जीवन की दृष्टि से रहस्यवाद का क्या महत्व है अथवा जीवन के लिए यह कैसा आदर्श उपस्थित करता है? रहस्यवाद को जीवन-पद्धति के रूप में देखने का भी यही तात्पर्य होना चाहिए। रहस्यवाद मूलतः एक सक्रिय, रचनात्मक, सर्जक, उन्नायक तथा आत्मोत्कर्षपरक जीवन-सिद्धान्त है जिसके अनुसार जीवन के उद्देश्यों एवं समस्याओं को वास्तविक रूप में ग्रहण किया जाता है। इस कार्य में शुष्क तर्क की कोई आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार रहस्यवाद बुद्धिनिरपेक्ष एवं बहुआयामी है।

रहस्यवाद सर्वव्यापक, सर्वातीत, सत्य-शिव-सुंदर, सच्चिदानन्दरूप, पूर्ण एवं नित्य, विश्वात्मक, परमात्मसत्ता के साथ होने वाले अनिर्वचनीय, अद्वयात्मक ऐक्य अथवा विशिष्ट पूर्णजीवन के लिए चरमसत्यान्वेषण है। इस प्रकार रहस्यवाद का साध्य है परमात्मसत्ता जो सर्वव्यापक, सर्वातीत, पूर्ण, नित्य आदि वैशिष्ट्य से संपन्न है। उसके साथ होने वाला ऐक्य वर्णनातीत है, वाणी की सीमा से परे है एवं द्वैधवृत्ति से शून्य है,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पूर्ण एवं एकरस है। विशिष्ट पूर्णजीवन के लिए किया गया चरमसत्यान्षेषण भी इसी प्रकार का है। रहस्यवाद उक्त ऐक्य अथवा चरमसत्यान्वेषण के लिए किये गये अतीन्द्रिय एवं अद्वयात्मक प्रातिभ साक्षात्कार की स्वानुभूति से संपन्न मानव चेतना अथवा मनोवृत्ति का साधन एवं जीवन दर्शन है। उक्त ऐक्य अथवा चरमसत्यान्वेषण के लिए किया गया साक्षात्कार इन्द्रियातीत एवं एकरस होता है। वह प्रातिभ होता है। मानव चेतना उक्त साक्षात्कार की अखण्ड अनुभूति से परिपूर्ण होती है। रहस्यवाद आन्तरिक साधन और जीवनदर्शन है। उसमें बाह्य साधनों का कोई महत्व नहीं होता है। यह साधन और जीवन दर्शन आचार प्रधान, अनुशासन संपन्न, उन्नायक, रचनात्मक, हार्दिक, संवेगात्मक एवं विवेकपूर्ण होता है। यह रहस्यवाद बुद्धि के क्षेत्र से परे होता है जिसमें शास्त्र एवं तर्क का सर्वथा अभाव रहता है। सांकेतिक, प्रतीकात्मक एवं पौराणिक शैली के माध्यम से यह साहित्य में अभिव्यक्त हो पाता है। यह अभिव्यक्ति भी स्वाभावतः अधूरी ही रहती है, क्योंकि रहस्यानुभूति कभी भी पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं हो सकती।

रहस्यवाद आचार शास्त्र से भी भिन्न है। आचारशास्त्र में तर्कपद्धति से काम लिया जाता है, जब कि रहस्यवाद में तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। यदि आचारशास्त्र के अन्तर्गत उठनेवाले तर्काश्रित प्रश्नों का कोई महत्व न रह जाय तथा साथ ही जब हम किसी मूल्य का निर्धारण अनुभूति विशेष के बल पर करें, तो हम रहस्यवाद को आचारशास्त्र की कोटि में रख सकते हैं। रहस्यवाद जब मनुष्य के मौलिक एवं स्वाभाविक धर्म का प्रतिनिधित्व करता है तो धर्म की संज्ञा दी जाती है, किन्तु रहस्यवाद वह संकुचित धर्म नहीं है जिसके कारण उसे मजहब अथवा संप्रदाय की संज्ञा प्राप्त होती है। रहस्यवाद को दर्शन की संज्ञा दी जा सकती है, लेकिन ऐसी स्थिति में दर्शन का उद्देश्य परमतत्व एवं परमसत्य की सत्ता और स्वरूप का अनुसंधान ही होना चाहिए। साथ ही ऐसी स्थिति में दर्शन को न तो किसी वाद-विशेष के रूप में सीमित होना चाहिए और न उसमें शुष्क तर्क को आश्रय दिया गया हो। रहस्यवाद बुद्धि की अपेक्षा प्रातिभज्ञान को विशेष प्रश्रय देता है। जीवन की आंतरिक अनुभूतियों के बल पर ही रहस्यवाद अपना विकास करता है।[47] मिस्टिसिज्म नाम की अपनी पुस्तक में अंडरहिल ने लिखा है कि यदि दार्शनिक अनुमान अथवा तर्क से काम लेता है, तो रहस्यवादी उसे अपने प्रत्यक्ष जीवन में उतारता है और तदनुरूप उसे ग्रहण कर अपनी दृष्टि का निर्माण करता है। वह किसी भाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बनाता, प्रत्युत प्रत्यक्षानुभूति की अस्फुट वाणी द्वारा ही अपना काम चला लेता है।[48]

वास्तविक रहस्यवाद का स्वरूप

एवलिन अंडरहिल ने वास्तविक रहस्यवाद (ट्रू मिस्टिसिज्म) का स्वरूप स्थिर करने के लिए उसकी चार विशेषताएँ बतायी हैं—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(1) वास्तविक रहस्यवाद क्रियात्मक और व्यावहारिक होता है, वह निष्क्रिय और सैद्धान्तिक नहीं होता। यह एक आंगिक जीवन-प्रक्रिया है अथवा एक ऐसी वस्तु है जिसे संपूर्ण जीवात्मा संपन्न करती है। इसके विषय में बुद्धि भी मन्तव्य स्थिर नहीं कर सकती। जादूविद्या भी व्यावहारिक (प्रैक्टिकल) होती है, लेकिन रहस्यवाद की व्यावहारिकता एवं जादू विद्या की व्यावहारिकता में अंतर होता है। रहस्यवाद स्वतः स्फूर्त ज्ञान की तरह निर्विकल्प और व्यक्तिगत होता है। यह केवल सुंदर और व्यंजक चित्र रचना ही नहीं है, बल्कि अपने सघनतम रूप में अनुभव भी है। प्लूटिनस के शब्दों में वह अनुभव आत्मा का एकल एवं निःसंग साहसिक कर्म है, एकाकी का एकाकी के पास गमन है। इस प्रकार ही रहस्यवाद जीवन प्रक्रिया में दिखायी देना चाहिए।

(2) रहस्यवाद के उद्देश्य संपूर्णतः सर्वातीत और आध्यात्मिक होते हैं। वह किसी भी प्रकार लोक के प्रति अपने कर्त्तव्य की अवहेलना नहीं करता, यद्यपि उसके शत्रु उस पर ऐसा आरोप करते हैं। वह सदैव एक नित्य तत्व के प्रति निष्ठावान रहता है। दृश्यमान जगत के यत्किंचित परिवर्तन, परिवर्धन, अन्वेषण, पुनर्व्यवस्थापन अथवा उन्नयन आदि से इसका कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार रहस्यवाद पूर्णतः एक आध्यात्मिक क्रिया है। इससे रहस्यवाद की एक सीमा निर्धारित होती है। वस्तुतः जादू और जादूई धर्म के सभी प्रयोक्ता इस सीमा में नहीं आते। जादू के प्रयोक्ता का लक्ष्य भिन्न होता है। अदृश्य शक्ति की सहायता से दृश्य शक्ति को उन्नत और विशद करना उनका ध्येय होता है, शक्ति, गुण प्रसन्नता अथवा ज्ञान की वृद्धि के लिए आत्मा की परमसामान्य शक्तियों का प्रयोग करना उनका उद्देश्य होता है। रहस्यवादी कभी भी उपर्युक्त पद्धति का अनुसरण नहीं करता अथवा दो लोकों के लाभ को एक में नहीं मिलाता। वह ईश्वर को अधिगत करता है, तथा अन्य कुछ नहीं चाहता।

(3) प्रेम रहस्यवाद का कार्य (बिजनेस) और उसकी पद्धति (मेथड) है। रहस्यवादी के लिए वह एक अपरिवर्तनशील ईश्वर ही सर्वस्व होता है । वह एक प्रेम का सजीव और वैयक्तिक विषय है। वह कभी भी अन्वेषण का विषय नहीं हो सकता। रहस्यवादी प्रेम इच्छाशक्ति का पूर्ण समर्पण होता है। वह प्रेम अपने उत्स के प्रति आत्मा की गहरी इच्छा और प्रवृत्ति है। यह विनम्र अभिगमन की एक दशा है, आत्मा का जीवन-स्पंदन है, जो अपनी पद्धतियों में अधिक प्रत्यक्ष और अपने परिणामों में अधिक सप्रमाण होता है। रहस्यवादी के लिए (क) प्रेम उसकी इच्छा शक्ति का क्रियाशील, संकल्पात्मक प्रकाशन एवं पूर्ण (ब्रह्म) के लिए वांछा है, (ख) प्रेम उस पूर्ण (ब्रह्म) के प्रति सहज प्रवृत्ति और उसकी आध्यात्मिक क्षमता है। रहस्यवादी के लिए प्रेम आनन्द का स्रोत, विश्व का रहस्य और पदार्थों का जीवन दायक सिद्धान्त है। इस प्रकार केवल हृदय ही हमें उस पूर्ण (ब्रह्म) के निकट ले जाता है, तर्क द्वारा हम कभी भी वहाँ नहीं पहुँच सकते ।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(4) रहस्यवाद अपने अपरिवर्तनीय उत्तराधिकार रूप एक सुनिश्चित मनोवैज्ञानिक अनुभव प्रदान करता है। पूर्ण (ब्रह्म) के साथ ऐक्य स्थापित करना रहस्यवादी का विषय होता है। एक (ईश्वर) के साथ एकमेक होकर रहना, जो उसके साहसकर्म की सीमा है, उच्च, परिवर्द्धित जीवन की एक सुनिश्चित अवस्था अथवा रूप है। यह न तो अपने आह्लाद के एक बौद्धिक प्रत्यक्षीकरण से प्राप्य है और न अति तीव्र भावात्मक आकांक्षाओं से ही। हाँलाकि इन दोनों की उपस्थिति अनिवार्य है, फिर भी पर्याप्त नहीं है। यह एक अविश्रान्त, क्रियाशील मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक प्रक्रिया है अर्थात् तथाकथित रहस्यवादी मार्ग द्वारा ही सुलभ है। इस प्रक्रिया में अपरिवर्तनीय उत्तराधिकार रूप में चरित्र का पूर्णतः पुनर्निर्माण होता है और चेतना नये अथवा गुप्त रूप में विमुक्ति को प्राप्त करती है। ऐसी स्थिति में आत्मा परमानंद की अवस्था को प्राप्त करती है। इसे आत्मा की एकात्मक अवस्था भी कह सकते हैं। इस प्रकार सुनिश्चित मनोवैज्ञानिक अनुभूति मन और हृदय की एक प्रवृत्ति मात्र नहीं है, अपितु सांग जीवन का एक प्रकार है।[49]

(5) अंडरहिल ने उपर्युक्त चार नियमों के उपनियम की चर्चा करते हुए लिखा है कि वास्तविक रहस्यवाद कभी भी स्वार्थान्वेषी नहीं होता। जैसा कि बहुत लोग सोचते हैं, यह अतिप्राकृतिक आनन्दों का अनुधावन, एक ऊँची महत्वाकांक्षा की संतुष्टि नहीं है। वस्तुतः रहस्यवादी आनन्दकर दृश्य की प्रसन्नता, पूर्ण के साथ ऐक्य के परमानन्द अथवा अन्य किसी व्यक्तिगत फल की कामना के लिए अन्वेषण में प्रवृत्त नहीं होता। रहस्यवादी ऐसे आनन्दों की प्राप्ति के लिए ईश्वर की कामना नहीं करता, बल्कि वास्तविक प्रेम की मनोवृत्ति से उसकी कामना करता है।[50]

इस प्रकार रहस्यवाद एक सम्मति अथवा मत नहीं है, यह एक दर्शन नहीं है। इसमें गुह्यज्ञान के मार्ग जैसा कुछ भी नहीं है। एक ओर तो यह शाश्वतता के चिन्तन की शक्ति मात्र नहीं है तो दूसरी ओर यह किसी धर्म जिज्ञासा से अभिन्न भी नहीं है। यह उस सांग प्रक्रिया का नाम है जो ईश्वरीय प्रेम की पूर्णसिद्धि को अन्तर्भूत करता है। यही यहाँ की उपलब्धि है जिसे हम मनुष्य का दैवी रिक्थ कह सकते हैं। वस्तुतः पूर्ण (ब्रह्म) के साथ चेतन संबंध स्थापित करने की यह एक कला है।[51]

इस प्रकार हम निष्कर्षतः रहस्यवाद के तत्वों की चर्चा कर सकते हैं जिनके अभाव में रहस्यवाद की कल्पना असंभव है। इन्हें रहस्यवाद के अंग भी कह सकते हैं। रहस्यवाद के तत्व इस प्रकार है।....(1) साध्य तत्व, (2) साधन तत्व, यह साधन अमोध हो एवं अन्य साधनों से विलक्षण हो। (3) सिद्धि तत्व, इसे साधनानुभूति अथवा रहस्यानुभूति कह सकते हैं। (4) साधक अर्थात् रहस्यवादी की स्थिति। (5) अभिव्यक्ति की शैली। (6) सिद्धान्त।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैश्व रहस्यवाद का सार्वजनीन स्वरूप

पहले रहस्यवाद को परिभाषित करने का प्रयास किया गया है और उसके फलस्वरूप रहस्यवाद के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। यहाँ रहस्यवाद की वे सामान्य विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं जो सार्वजनीन हैं और विश्व के सभी रहस्यवादों में समानभाव से उपलब्ध होती हैं। वे सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं।..... (क) रहस्यवादियों का सभी प्रकार के एकत्व (यूनिटी) में विश्वास, (ख) अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से उपलब्ध सर्वातीत आध्यात्मिक आनन्द की सर्वोच्चता में विश्वास, (ग) आनन्दमय एकात्मक अनुभूति का संपूर्ण जीवन में अवतरण।[52]

ये सामान्य लक्षण विश्व के सभी रहस्यवादों में देखे जा सकते हैं। एकत्व की भावना के लिए एक, सर्वव्यापक अनित्य परमतत्व को स्वीकार किया गया है। संपूर्ण विश्व की सृष्टि उस एक, सर्वातीत, सर्वव्यापक, अपरिवर्तनशील परमतत्त्व से ही हुई है। ब्रह्माण्ड का कण-कण उस एक से परिपूर्ण है, संचालित है। रहस्यवादी उस एक परमतत्व को सृष्टि के अणु-अणु में देखता है, उक्त दर्शन में उसका अटूट विश्वास होता है। सभी प्रकार के एकत्व में विश्वास व्यक्त करने के लिए भारतीय रहस्यवाद में मायावाद और अद्वैतवाद को स्वीकार किया गया है। उस विश्वरूप और आत्मरूप का संवाद भी इसी एकत्व के सिद्धान्त का पोषण करता है। इन्द्रियों के प्रभाव से मुक्त होकर मन उत्थान को प्राप्त करता है और तत्पश्चात् हार्दिक संवेगों की सहायता से अलौकिक विषयों का साक्षात्कार करता है अथवा अलौकिक अनुभूति की प्राप्ति करता है। जब उक्त अनुभूति जीवन में अवतरित होकर संपूर्ण जीवन में परिव्याप्त हो जाती है और उसका संचालन करती है तथा सारे जीवन में उस एकत्व की अनुभूति होने लगती है, तभी एकात्म जीवन के दर्शन होते हैं।[53]

रहस्यवाद की सामान्य विशेषताओं के अन्तर्गत एक चौथी विशेषता का भी उल्लेख कर सकते हैं जिसके अनुसार सभी प्रकार के रहस्यवाद में एक विशिष्ट शैली का प्रयोग किया जाता है। सभी रहस्यवादी अपनी रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति विविध प्रकार के प्रतीकों के माध्यम से करते हैं। इसके लिए वे पौराणिक शैली, किसी मिथक अथवा कई प्रकार के संकेतों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार रहस्यवाद का अभिव्यक्ति पक्ष सामान्य लौकिक काव्य की अभिव्यक्ति पद्धति से विशिष्ट होता है।

ये चार विशेषताएँ विश्व के सभी प्रकार के रहस्यवाद में देखने को मिल सकती हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वैश्व रहस्यवाद वह जीवन दर्शन अथवा सिद्धान्त है जिसके अंतर्गत विश्व के सभी रहस्यवादी सभी प्रकार के एकत्व (यूनिटी) में विश्वास करते हैं, वे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से उपलब्ध सर्वातीत आध्यात्मिक आनन्द को सर्वोच्च मानते हैं, उक्त आनन्दमय एकात्मक अनुभूति का संपूर्ण जीवन में अवतरण स्वीकार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करते हैं तथा उन सबकी साहित्य में अभिव्यक्ति विशिष्ट प्रतीक शैली के माध्यम से करते हैं।

डॉ० आर०डी० रानडे के अनुसार पौर्वात्य एवं पाश्चात्य रहस्यवादियों के पूंजीभूत अनुभव से स्पष्ट है कि उनके रहस्यानुभव में एक निश्चित मात्रा तक सार्वभौमिकता अथवा सार्वजनीनता के दर्शन होते हैं। ईश्वर की उपाधि (नाम), भक्ति के आवेग अर्थात् ईश्वरोपासना के आवेग, आत्मसाक्षात्कार की प्रकृति के संबंध में उनकी शिक्षाएँ सामान होती हैं। यह सत्य है कि उन रहस्यवादियों में शारीरिक, मानसिक और स्वभाव-विषयक अंतर हो सकते हैं, लेकिन उनके रहस्यात्मक अथवा प्रातिभ साक्षात्कार के लक्षण अथवा स्वरूप में कोई अंतर नहीं होता है।[54]

रहस्यवाद के भेद

पूर्व के पृष्ठों में रहस्यवाद की परिभाषा, उसके स्वरूप आदि को उद्‌घाटित करने का प्रयास किया गया है। रहस्यवाद अपने आप में बड़ा ही जटिल और गंभीर विषय है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति सभ्यता के प्रायः सभी स्तरों, देशों और कालों में होती रही है। वस्तुतः रहस्यवाद और रहस्यवादी किसी जाति, धर्म या देश विशेष में सीमित नहीं रहे हैं। आर०डी० रानडे के शब्दों में सभी देशों और सभी युगों के रहस्यवादी साधकों का एक अथवा शाश्वत समाज है, जो जाति, धर्म और राष्ट्रगत सीमाओं से नितान्त मुक्त है। तदनुसार उनकी मर्मानुभूति की असीमता और चिरन्तनता देशकाल से परे हैं।[55] ऐसी स्थिति में रहस्यवाद के भेदों को स्थिर करना कठिन है। यों देश, धर्म संप्रदाय, रहस्यवाद का साध्य एवं साधना आदि की दृष्टि से रहस्यवाद के भेद किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, देश की दृष्टि से चीनी रहस्यवाद, धर्म की दृष्टि से ईसाई रहस्यवाद, हिन्दू रहस्यवाद, इस्लामी रहस्यवाद, संप्रदाय की दृष्टि से सूफी रहस्यवाद आदि भेद स्थिर किये गये हैं।

आर०डी० रानडे ने 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र' नामक ग्रंथ में मराठी संतों के रहस्यवाद का विवेचन करते हुए रहस्यवाद के अनेक भेदों की चर्चा की है जिसमें उन्होंने रहस्यदर्शी की प्रकृति पर विशेष ध्यान दिया है—(1) बौद्धिक रहस्यवाद (इंटेलेक्चुअल मिस्टिसिज्म), (2) प्रजातांत्रिक रहस्यवाद (डेमोक्रेटिक मिस्टिसिज्म), (3) समन्वयात्मक रहस्यवाद (सिंथेटिक मिस्टिसिज्म), (4) व्यक्तित्वपरक रहस्यवाद, (परसनलिस्टिक रहस्यवाद), (5) कर्मपरक रहस्यवाद (एक्टिविस्टिक मिस्टिसिज्म)।[56]

(1) बौद्धिक रहस्यवाद–महाराष्ट्र में रहस्यवाद का विकास दिखाते हुए डॉ० रानडे ने उसे कई कालों में विभाजित किया है। प्रत्येक काल का नाम एक प्रसिद्ध संत के नाम पर रखा गया है। प्रथम काल ज्ञानदेव-काल है जिसे रानडे ने बौद्धिक रहस्यवाद का काल कहा है। ज्ञानदेव की तीन महान रचनाओं—'ज्ञानेश्वरी',

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

'अमृतानुभव' एवं 'अभंग'—से स्पष्ट है कि सर्वांग रूप में अमृतानुभव एक दार्शनिक कृति है, अभंग एक रहस्यात्मक रचना है और दूसरी ओर ज्ञानेश्वरी दर्शन और रहस्यवाद दोनों से ही ओत-प्रोत है। ज्ञानदेव के रहस्यवाद को बौद्धिक रहस्यवाद कहा गया है, क्योंकि यह गीता की सुदृढ़ दार्शनिक भित्ति पर आधारित है। विशेषकर आचारमीमांसा की दृष्टि से ज्ञानेश्वरी नैतिक दर्शन (मोरल फिलासाफी) पर उपलब्ध किसी भी महान कृति का अतिक्रमण कर जाती है। इसके द्वारा किया गया विभिन्न सदाचारों का विश्लेषण सटीक एवं पूर्ण है। ज्ञानेश्वरी से स्पष्ट है कि ज्ञानदेव का दार्शनिक आधार न्यूनाधिक रूप में अद्वैतवेदान्त के सदृश है, हाँलाकि कभी-कभी इतश्ततः वेदान्त के अन्य वादों के भी दर्शन हो जाते हैं।[57]

(2) प्रजातांत्रिक रहस्यवाद–नामदेव के काल को प्रजातांत्रिक रहस्यवाद के नाम से अभिहित किया गया है। इस काल के संतों की कुछ ऐसी विशिष्ट विशेषताएँ हैं जो पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती काल के संतों से उन्हें अलग कर देती हैं। प्रथमतः इस काल के रहस्यवादी विश्वप्रेमी अथवा सार्वभौमवादी होते हैं अर्थात् विश्वबन्धुत्व में विश्वास करते हैं। वे सर्वत्र आध्यात्मिक प्रजातंत्र को स्वीकार करते हैं। नामदेव और उनके समकालीन संतों में भक्तिसिद्धान्त का प्रजातंत्र (डेमोक्रेसी आफ द भक्ति स्कूल) दिखायी देता है जिसे स्पष्ट करने के लिए डॉ० रानडे ने प्रो० डब्ल्यू०बी० पटवर्धन के विचारों को प्रस्तुत किया है। प्रो० पटवर्धन के अनुसार भक्ति के द्वार सर्वदा सबके लिए खुले हुए थे। जिसने भी भक्ति के क्षेत्र में प्रवेश किया, उसे बन्धु के रूप में स्वीकार किया गया और साधु के रूप में उसे सम्मान दिया गया। उसे एक सन्त के रूप में संबोधित किया गया। विट्ठल को सदैव स्मरण करने वाले ये सन्त विशिष्ट चिन्ह्रों को धारण करते थे। इन सभी संतों में भ्रातृत्वपूर्ण संबंध था। उनके वास्तविक एवं पवित्र प्रेम के अनुसार उच्च-नीच, धनी-गरीब, में कोई भेद नहीं था, सभी एक और समान थे। अवस्था और लिंग, जाति एवं वर्ण के आधार पर कोई भेद व्यवहार नहीं होता था। इस प्रकार विट्ठल भगवान के प्रेम में, उनकी भक्ति में, सभी सन्त आकण्ठ मगन रहते थे तथा इस रूप में भक्ति सिद्धान्त का प्रजातंत्र महाराष्ट्र में सर्वत्र छाया हुआ था। दूसरे इस काल के संतों की अनेक विशेषताएँ हैं– ये हृदय में ग्लानि का अनुभव करते हैं, ईश्वरीय ऐश्वर्य तक पहुँचने के लिए मानवीय प्रयत्न की असमर्थता को स्वीकार करते हैं, मानवीय प्रकृति में निहित पाप के भाव का अनुभव करते हैं एवं सांसारिक कष्टों से निवारण के लिए गुरू की खोज करते हैं। तीसरे, उस काल के रहस्यवादियों के ईश्वरीय प्रेम में सब कुछ समाहित था। इन सन्तों के अनुसार जीवन के किसी भी क्षेत्र में रहते हुए ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है।[58]

(3) समन्वयात्मक रहस्यवाद–संत एकनाथ के काल को डॉ० रानडे ने समन्वयात्मक रहस्यवाद कहा है। इस युग के संतों की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो न

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तो पूर्ववर्ती काल के संतों में मिलती हैं और न परवर्ती में। प्रथमतः इस काल के संतों में सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन का एक विलक्षण ऐक्य देखने को मिलता है। उदाहरणार्थ जनार्दन स्वामी और एकनाथ ऐसे प्रतिनिधि संत थे जिन्होंने स्वयं को सांसारिक जीवन से अलग नहीं कर लिया था। जनार्दन स्वामी एक योद्धा और संत थे तथा एकनाथ एक गृहस्थ और संत थे। इस सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन के समन्वय में, एकनाथ ने वह कार्य पूर्ण कर लिया था जिसे न तो उनके पूर्व के ज्ञानदेव या नामदेव ने संपन्न किया था और न उनके परवर्ती काल के तुकाराम एवं रामदास ने। ज्ञानदेव एवं रामदास गृहस्थ नहीं थे, इसलिए हम नहीं कह सकते कि उन दोनों ने कभी सांसारिक एवं आध्यात्मिक जीवन में एकता स्थापित की थी। नामदेव और तुकाराम गृहस्थ थे, लेकिन वे ईश्वर में इतने तल्लीन रहते थे कि अन्य किसी भी वस्तु का उनके लिए कोई महत्व नहीं था। एकनाथ के साथ ऐसी बात नहीं थी। वे ऐसे आदमी थे जिनके जीवन में उचित न्याय का सिद्धान्त प्रत्येक पग पर प्रभावी दिखायी देना चाहिए। दूसरे पूर्ववर्ती काल में जो वेदान्त इस रूप में लोकज्ञात नहीं था, उसकी लोकप्रियता पूर्णता की सीमा तक इस काल में पहुँच गयी थी। ज्ञानदेव का दर्शन उनकी भाषा के सदृश ही कुछ दुर्बोध था । एकनाथ की रचनाओं के साथ ऐसी बात नहीं थी। मुख्यतः एकनाथ ने ही वेदान्त के विचारों को गली-गली तक पहुँचाया और उसे लोकप्रियता प्रदान की।[59]

(4) **व्यक्तित्वपरक रहस्यवाद** (परसनलिस्टिक मिस्टिसिज्म)—डॉ० आर०डी० रानडे ने तुकाराम कालीन रहस्यवाद को व्यक्तित्वपरक रहस्यवाद की अभिधा दी है। तुकाराम के रहस्यवादी जीवन एवं उपदेशों से व्यक्तित्वपरक रहस्यवाद की विशेषताएँ उद्घाटित होती हैं। तुकाराम उन सभी सन्देहों एवं अंधविश्वासों, दुर्बलताओं एवं क्लेशों, चिन्ताओं एवं अनिश्चितताओं को प्रदर्शित करते हैं जिनसे होकर प्रत्येक उच्चाकांक्षी जीवात्मा को ज्योति आन्तरिक शक्ति एवं ऐक्य के जीवन में प्रवेश करने के पूर्व, निश्चय ही गुजरना पड़ता है। मराठा संत जगत में कदाचित नामदेव को छोड़कर ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता, जिन्हें तुकाराम में प्राप्त इस मानवीय तत्व के दृष्टान्त स्वरूप समझा जा सके। ज्ञानदेव ऐसे संत हैं जो अपने आध्यात्मिक जीवन में आंरभ से अन्त तक पूर्ण संत के रूप में हमारे सामने आते हैं। वे एक ऐसे प्रकाश हैं जो अपनी प्रतिभा द्वारा अत्यधिक चकाचौंध उत्पन्न करते हैं। तुकाराम का प्रकाश एक अनुकूलनकारी, अनवरत और वर्द्धनशील प्रकाश है जो अत्यधिक चमचमाता नहीं, लेकिन जो इसके द्वारा हमारी दृष्टि को प्रशान्त एवं अविक्षुब्ध बनाता है। यही कारण है कि अन्य किसी संत की तुलना में तुकाराम में ये मानवीय और व्यक्तित्वपरक तत्व अधिक प्रभावी (प्रबल) दिखायी देते हैं।[60]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(5) कर्मपरक रहस्यवाद—संत रामदास के युग को कर्मपरक रहस्यवाद के नाम से अभिहित किया गया है। संत रामदास की शिक्षाओं की प्रमुख विशेषता है कर्मण्यतावाद। संत रामदास ने महाराष्ट्र के किसी भी संत से ज्यादा ही अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए जनमानस का आह्वान किया, जब कि हृदय को सर्वदा ही ईश्वर में लगाने के लिए कहा। रामदास कहते हैं कि सर्वप्रथम मनुष्य को ईश्वर में विश्वास करना चाहिए और उसके पश्चात् स्वयं के प्रति और राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए। रामदास के अनुसार जब हमारे प्रयत्न भक्तिपूर्वक संपादित होते हैं, तभी वे सफल हो पाते हैं। उसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उस शिक्षा से उन्होंने मराठा साम्राज्य के निर्माण में योगदान किया। अन्य किसी पूर्ववर्ती संत ने ऐसा नहीं किया था। वस्तुतः यह सत्य है कि शान्तिवादी संत नामदेव और तुकाराम द्वारा भी जो सदाचार स्थिर किये गये थे, बाद में चलकर उन्हीं पर रामदास ने अपना राजनीतिक-धार्मिक प्रासाद खड़ा किया। नामदेव और तुकाराम ने लोगों का ध्यान अधर्म से धर्म की ओर आकृष्ट किया, तो रामदास ने धार्मिक विश्वास की नींव पर राष्ट्रीय गौरव का प्रासाद खड़ा किया।[61] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि डॉ. रानडे ने भारतीय रहस्यवाद के संदर्भ में ही मराठी संतों के रहस्यवाद का विवेचन किया है। इस विवेचन के लिए उन्होंने रहस्यवाद के पाँच भेद निर्धारित किये हैं जिनका सामान्य एवं संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है।

डॉ० आर०डी० रानडे के सदृश ही अनेक विद्वानों ने रहस्यवाद के विषयविवेचन के क्रम में यत्र-तत्र उसके विविध भेदों की ओर संकेत किया है। एफ०सी०हैपौल्ड ने रहस्यानुभव के दो प्रकार निर्धारित करते हुए उसे रहस्यवाद के दो भेदों के रूप में भी देखा है—(1) प्रेम और ऐक्य का रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म ऑफ लव एण्ड यूनियन), (2) ज्ञान और अवबोध का रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म ऑफ नालेज एण्ड अंडरस्टेंडिंग)। किसी भी तरह ये एक दूसरे के निषेधक नहीं हैं। वस्तुतः कुछ सीमा तक ये सर्वदा ही संश्लिष्ट हैं। सर्वप्रधान उत्कंठा अथवा अभीप्सा पर ही उनका भेद आधारित है। भागवत-प्रकृति के सघनतर भागीदार होने और पुनः संयोग के लिए पृथकता की भावना से और स्वार्थ के एकाकीपन से पलायन ही प्रथम अभीप्सा अथवा उत्कण्ठा है। इससे आत्मा को विश्रांति और शान्ति की प्राप्ति होती है। प्रेम और ऐक्य का रहस्यवाद मात्र ईश्वर हेतु मानव की खोज के रूप में वर्णित नहीं हो सकता, बल्कि मानव हेतु ईश्वर की खोज रूप में ही यह रहस्यवाद वर्णित हो सकता है। ज्ञान और अवबोध का रहस्यवाद मानव में अंतर्निहित उत्कण्ठा से उत्पन्न होता है। उक्त उत्कंठा द्वारा मनुष्य विश्व के रहस्यज्ञान के लिए, उसकी संपूर्णता में ग्रहण करने के लिए उद्यत होता है।[62]

ऊपर रहस्यवाद के दो मुख्य प्रकारों का उल्लेख किया गया है। एक भिन्न दृष्टिकोण से देखने पर रहस्यवाद के तीन पक्षों पर विचार किया जा सकता है—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(1) प्रकृतिपरक रहस्यवाद (नेचर-मिस्टिरसिज्म), (2) आत्मपरक रहस्यवाद (सोल-मिस्टिरसिज्म), (3) ईश्वरपरक रहस्यवाद, (गाड मिस्टि-सिज्म) । प्रकृति में ईश्वर अथवा आत्मा की सर्वव्यापकता की भावना का होना ही प्रकृतिपरक रहस्यवाद की मुख्य विशेषता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृतिपरक रहस्यवाद के अन्तर्गत 'एक' में 'सर्व' का तथा 'सर्व' में 'एक' का अनुभव हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति के कण-कण में ईश्वर की सर्वव्याप्ति का अनुभव होने लगता है। शुद्ध आत्मपरक रहस्यवाद के अन्तर्गत ईश्वर के अस्तित्व का विचार, अपने किसी भी प्रकाश्य रूप में नहीं रहता। आत्मा स्वयं में दिव्य और गुप्त समझी जाती है। अजन्मा आत्मा प्रकृति अथवा ईश्वर के साथ समागम की स्थिति में प्रवेश करने के लिए उद्योगशील नहीं रहती, अपितु स्वयं के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं से पूर्ण पार्थक्य की अवस्था में प्रवेश करने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं। इसमें अपनी स्वयं की आत्मा की खोज एवं इसके संबंध में वास्तविक ज्ञान ही मनुष्य का मुख्य लक्ष्य है। आत्मपरक रहस्यवाद ईश्वरपरक रहस्यवाद के साथ संयुक्त किया जा सकता है। दोनों प्रकार के रहस्यवाद आत्मा के दिव्य एवं गुप्त गुणों तथा इसके गौरव पर विशेष बल देते है। ईश्वरपरक रहस्यवाद की मुख्य विशेषता है—आत्मा का अपने ईश्वर रूपी अमर एवं असीम आधार पर अवतरण। इसके एकाधिक रूप हो सकते है। पहले प्रकार के अंतर्गत अजन्मा आत्मा अर्थात् वास्तविक आत्मा ईश्वर की सत्ता में अंतर्लीन समझी जाती है। ऐसी स्थिति में एक ऐसा अनुभव होता है जिसमें हरएक व्यक्तित्व और संपूर्ण वस्तु जगत पूणर्तः विलुप्त हो जाता है। पौर्वात्य रहस्यवाद के अधिकांश रूपों में यह प्रकार (रहस्यवाद) विशिष्ट है। दूसरे प्रकार के पाश्चात्य विशेषताओं से संपन्न रहस्यवाद के अनुसार ईश्वर द्वारा रचित आत्मा देवस्वरूप कही जाती है और इस प्रकार यह ईश्वर हो जाती है। यह अपनी इकाई को खोये बिना ऐक्य एंव रूपान्तर की प्रक्रिया द्वारा एक नवीन जीव बन जाती है ।[63]

अंडरहिल ने भी प्रकृतिपरक रहस्यवाद की चर्चा की है जिसके अंतर्गत सभी जीवो में अनन्त जीवन की व्याप्ति का सर्वाक्रामक बोध क्रियाशील रहता है। 'दि इल्यूमिनेशन आफ द माइंड' शीर्षक परिच्छेद के अन्तर्गत अंडरहिल ने लिखा है कि प्रकृति में ईश्वर को देखना, प्राकृतिक वस्तुओं की अन्यता (अदरनेस) की प्रकाशमयी चेतना को उपलब्ध करना ज्ञानप्रकाश (इल्यूमिनेशन) का सरलतम एवं सामान्यतम रूप है।[64]

एफ०सी०हैपाल्ड ने ज्ञान एवं अवबोध का रहस्यवाद तथा प्रेम एवं ऐक्य का रहस्यवाद के साथ कर्मपरक रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म आफ एक्शन) की चर्चा की है। कर्मपरक रहस्यवाद की उत्पत्ति प्रथम दो प्रकार के रहस्यवाद से संभव हो पाती है और उसका प्रकाशन भी लौकिक जगत् में देखने को मिलता है। हैपोल्ड ने आगे बताया है कि इसका विवेचन भगवद्गीता में हुआ है। एक अन्य प्रसंग में बुद्धिपरक रहस्यवाद

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(मिस्टिसिज्म आफ दि इंटेलेक्ट) और प्रेमपरक रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म आफ लव) का विवेचन किया गया है।[65] गीता के अनुसार हैपोल्ड ने प्रेममूलक विश्वास (श्रद्धा) एवं निष्काम कर्मपरक रहस्यवाद (मिस्टिसिज्म आफ लविंग फेथ एंडसेल्फलेस एक्शन) की भी चर्चा की है।[66]

प्रायः दिशाभेद के आधार पर भी रहस्यवाद के भेद निर्धारित किये जाते हैं जैसे पूर्वी रहस्यवाद और पश्चिमी रहस्यवाद। लेकिन रुडॉल्फ ऑटो ने मूलतत्व की दृष्टि से पूर्वी और पश्चिमी रहस्यवाद नाम के दो भेद स्थिर किये हैं। ऑटो ने भारतीय दार्शनिक शंकराचार्य की विचारधारा के साथ ईसाई रहस्यवादी एरवार्ट के विचारों की तुलना की है और दोनों की विशेषताओं के आधार पर क्रमशः पूर्वी रहस्यवाद एवं पश्चिमी रहस्यवाद नाम से दो प्रधान भेदों की विवेचना की है।[67] इन भेदों के तुलनात्मक विवेचन के क्रम में ऑटो ने अनेक अन्य रहस्यवाद के भेदों की चर्चा की है। 'दि वे आफ नालेज' शीर्षक परिच्छेद के अन्तर्गत उन्होंने स्वेच्छावादी रहस्यवाद (वोलंटरिस्टिक मिस्टिसिज्म), भक्ति रहस्यवाद, बौद्धिक रहस्यवाद (इंटेलेक्चुअल मिस्टिसिज्म), भावात्मक रहस्यवाद (इमोशनल मिस्टिसिज्म) आदि की चर्चा की है और बताया है कि शंकराचार्य एवं एरवार्ट की प्रमुख विशेषता यह है कि दोनों के रहस्यवाद बौद्धिक हैं, न कि भावात्मक। कारण कि ये दोनों रहस्यवादी नालेज, ज्ञान, विद्या, सम्यग्दर्शनम् के अन्वेषक हैं। वे रहस्यात्मक पूर्वबोध, मात्र मनोभाव अथवा अप्रकाश्य भाव की अवस्था में अवस्थित रहने से परितृप्त नहीं होते।[68] आटो ने लिखा है कि शंकराचार्य की तरह ही एरवार्ट का रहस्यवाद आध्यात्मिक रहस्यवाद (स्पीरिचुअल मिस्टिसिज्म) है, न कि प्रकृतिपरक रहस्यवाद (नेचर मिस्टिसिज्म)। प्रकृति के ऐक्य में आप्लावित अथवा निमग्न होने के बोध को प्रकृतिपरक रहस्यवाद कहते हैं जिसमें मनुष्य स्वयं में सभी वैयक्तिकताओं, प्राकृतिक वस्तुओं की सभी विचित्रताओं का अनुभव करता है। इस प्रकार मनुष्य प्रकृति के विविध रूपों के साथ तन्मय हो जाता है, प्रकृतिमय हो जाता है। प्रकृतिपरक रहस्यवाद के अनुसार प्रकृति की सत्ता और आनन्द में ही एकमेव दैवी सत्ता सुलभ एवं अनुभूत हो सकती है। एरवार्ट का आध्यात्मिक रहस्यवाद इससे भिन्न है। वह वस्तुओं एवं वस्तुओं की सत्ता को दैवी महत्व एवं मूल्य के सिद्धान्त की दृष्टि से देखता है।[69]

ऑटो की दृष्टि में योग ऐक्य का रहस्यवाद नहीं है, बल्कि शुद्ध रूप में आत्मा के अथवा आत्मा की दिव्य सत्ता के विकास का रहस्यवाद है। (ऑटो के इस कथन में युक्तियुक्तता नहीं दिखाई पड़ती। उन्होंने यद्यपि अपने इस कथन की व्याख्या नहीं की है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में पतंजलि का 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' जैसा वाक्य ही रहा है । तंत्र के उन अद्वैतवादी योगभेदों की ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जिसमें कुंडलिनी योग और हठयोग आदि की गणना की जाती है।) हमने पहले 'सोल मिस्टिसिज्म' (आत्मपरक रहस्यवाद) और 'गॉड मिस्टिसिज्म' (ईश्वरपरक रहस्यवाद) की चर्चा की है। इस संदर्भ में आटो का अपना मत है कि योग में और बौद्ध उपदेशों में रहस्यवाद मात्र एक आत्मपरक रहस्यवाद बन जाता है। हाँलाकि मूलतत्व की दृष्टि से इन दोनों रूपों में पर्याप्त अंतर है। साथ ही आत्मपरक रहस्यवाद को ईश्वरपरक रहस्यवाद के साथ संयुक्त किया जा सकता है। (अन्य अनेक विचारक ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि बौद्धमत में रहस्यवाद के लिए अवकाश नहीं है क्योंकि वह मूलतः अनात्मवादी और अनीश्वरवादी है।) शंकराचार्य के लिए 'आत्माप्रधान रहस्यवाद' ही उनकी विचारसरणि का मूलाधार है।[70] ऑटो ने गतिशील रहस्यवाद (डाइनेमिक मिस्टिसिज्म) की भी चर्चा की है। वस्तुतः हमारे जीवन की पवित्रता इस बात पर निर्भर है कि हम ईश्वर को जाने तथा इसके साथ ही आत्मा को भी पहचाने और इस प्रकार प्रत्येक वस्तु को ईश्वर में ही स्थित मानते हुए उसके प्रति प्रेमभाव रखें। इस क्रम में हमें अंत में स्वयं को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना चाहिए। अतः ईश्वर हमारे जीवनादर्श का एक उपयुक्त, सुंदर माध्यम एवं साधन बन जाता है और हम एक निपुणशिल्पी की तरह उस ईश्वर से अपना काम निकाल लेते हैं। उपर्युक्त भावना पर आधारित रहस्यवाद को गतिशील रहस्यवाद कहा गया है।[71]

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलनात्मक चर्चा करते समय रहस्यवाद के विविध प्रकारों का उल्लेख किया है। कबीर के रहस्यवाद के अन्तर्गत उन्होंने तीन प्रकार के रहस्यवाद का विवेचन किया है—(1) अनुभूतिमूलक रहस्यवाद, (2) साधनात्मक या यौगिक रहस्यवाद, (3) अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद।

बुद्धिमूलक तर्क दर्शन की आधारभूमि है तथा हृदयमूलक अभिव्यक्ति अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद की। रहस्यमय की हृदयमूलक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति रहस्यवाद में होती है जिसमें हृदय की भावप्रवणता, सुकोमलता और सरसता पूर्ण रूप में पायी जाती है। फलतः अनुभूतिमूलक रहस्यवाद में अत्यधिक भावप्रवणता, सरलता एवं सुकोमलता के दर्शन होते हैं। डॉ० त्रिगुणायत ने यौगिक रहस्यवाद का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए बताया है कि कबीर सच्चे योगी थे, उनमें यौगिक रहस्यवाद भी मिलता है। यौगिक रहस्यवाद की चर्चा आगे विस्तार से की जायेगी। अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद की रहस्यात्मकता का आभास मात्र अभिव्यक्तिमूलक जटिलता और चमत्कार के कारण होता है। डॉ० त्रिगुणायत ने अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद के कई प्रकार और स्वरूप निर्धारित किये हैं—(1) आध्यात्मिक तथ्यों का उलटबासियों के रूप में कथन करना, (2) साधारण-सी बातों को अद्भुत रूप से रोचक शैली में प्रकट करना, (3) केवल पारिभाषिक शब्दों के सहारे कुछ अस्पष्ट-शैली में किसी अस्पष्ट-तथ्य का कथन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करना, (4) लक्ष्यहीन रूपकों, अन्योक्तियों आदि अलंकारों तथा प्रतीकों आदि की योजना करना।[72]

वस्तुतः अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद, रहस्यवाद का एक विशेष प्रकार नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि प्रतीक, विचित्र कथन, परिभाषिक शब्दप्रयोग, अन्योक्ति आदि तो रहस्यवाद की भाषाशैली के मुख्य तत्व हैं। वस्तुतः रहस्य की अभिव्यक्ति इनके अतिरिक्त अन्य साधनों से हो ही नहीं सकती। जब रहस्यवादी की भाषा के ये मूल तत्व हैं तो इनके आधार पर पृथक रहस्यवाद के प्रकार की कल्पना किस प्रकार की जा सकती है। डॉ० त्रिगुणायत के आगे के विवेचनों की समीक्षा में भी इस टिप्पणी को ध्यान में रखा जाना चाहिए।

डॉ० त्रिगुणायत ने जायसी के रहस्यवाद को पंचमुखी बताते हुए उक्त क्रम में पाँच प्रकार के रहस्यवाद की चर्चा की है—(1) आध्यात्मिक रहस्यवाद, (2) प्रकृतिमूलक रहस्यवाद, (3) प्रेममूलक रहस्यवाद, (4) यौगिक रहस्यवाद, (5) अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद। दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति जब भावना के माध्यम से की जाती है, तब आध्यात्मिक रहस्यवाद का अभ्युदय होता है। स्पर्जन के आधार पर डॉ० त्रिगुणायत ने लिखा है कि "जब रहस्यवादी अपनी धारणा इस प्रकार व्यक्त करता है कि वह बुद्धि और भाव दोनों ही का आनन्द विधान करती है, तब उसे आध्यात्मिक रहस्यवाद कहते हैं।" प्रकृति मूलक रहस्यवाद के अनुसार रहस्यवादियों के लिए प्रकृति सर्वदा से ही सजीव एवं सार्थक रही है। सभी रहस्यवादी-पाश्चात्य, भारतीय अथवा सूफी-प्रकृति में परमात्मा के दर्शन करते हैं। वस्तुतः इसके मूल में भावात्मक अद्वैतवाद का सिद्धान्त कार्य करता है। प्रेममूलक रहस्यवाद में प्रेमतत्व की प्रधानता रहती है। वास्तव में यह कोई सिद्धान्त मात्र नहीं है। वस्तुतः प्रेममूलक रहस्यवाद प्रियतम ईश्वर तक पहुँचने के भावनामय मार्ग के साधक की अनुभूतियों का प्रकाशन है। अज्ञात-तत्व ब्रह्म तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं जिनमें सौंदर्य का प्रेममार्ग विशेष महत्व रखता है। जायसी के यौगिक रहस्यवाद के संबंध में कहा गया है कि "यद्यपि जायसी में भावनाप्रधान रहस्यवाद ही पाया जाता है, किन्तु तत्कालीन नाथपंथियों के प्रभाव से उनमें यत्र-तत्र यौगिक रहस्यवाद की भी अभिव्यक्ति हो गयी है। पिंड में ब्रह्माण्ड की कल्पना करना यौगिक रहस्यवाद की प्रधान विशेषता है।"[73]

यहाँ जायसी के रहस्यवाद पर विचार करना मेरा अभिप्राय नहीं है। यौगिक रहस्यवाद की ओर संकेत करना मात्र ही ध्येय रहा है।

एक अन्य ग्रंथ 'दि नेचर आफ मिस्टिसिज्म' के हिन्दी रूपान्तर 'भावनायोग' में रहस्यवाद (भावनायोग) के छः भेद बताए गये हैं—(1) कृपा का भावनायोग, (2) प्रेम का भावनायोग, (3) सर्वेश्वर का भावनायोग, (4) प्रकृति का भावनायोग, (5) क्रियाकाण्ड का भावनायोग, (6) थियासोफी का भावनायोग।[74]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यहाँ यह स्पष्ट रहना चाहिए कि रहस्यवाद के पर्याय के रूप में भावनायोग शब्द का प्रयोग किया गया है जिसकी ओर पहले ही संकेत किया जा चुका है। 'कृपा का भावनायोग' के अन्तर्गत प्रभुकृपा का विशेष महत्व होता है। इस भावनायोग में ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता एवं माहात्म्य के विचार के प्रबल होने से ईश्वर के स्वरूप वर्णन में भय का अंग भी महत्वपूर्ण हो जाता है। 'ईश्वर का भय ज्ञान का आरंभ है।'[75] 'प्रेम का भावनायोग' (रहस्यवाद) के रहस्यवादी (भावनायोगी) का विषय है–ईश्वर का मनुष्य के प्रति सदैव उमड़ता प्रेम। ईश्वर अपने जीवों से अवर्णनीय प्रेम करता है। इस प्रकार के रहस्यवाद में जीवात्मा और परमात्मा का बिल्कुल मिल जाना ही आदर्श माना गया है।[76] 'सर्वेश्वर का भावनायोग' के संबंध में बताया गया है कि "मनुष्य ही सर्व है। सब प्रकार से इस बात पर जोर देना कि मनुष्य और ईश्वर एक हैं, इस योग का विषय है"।[77] प्रकृति का भावनायोग के अनुसार प्रकृति प्रभु का दर्पण है । प्रकृति के रहस्यवादी के लिए अपने आस-पास की प्रकृति एक दर्पण मात्र होती है जिसमें ईश्वर का प्रतिबिंब दिखायी पड़ता है। प्रकृतिपरक रहस्यवादी प्रकृति के सौन्दर्य का ही ध्यान कर ईश्वर के दर्शन कर लेता है। प्रकृति के नाना रूप उक्त योगी के कान में ईश्वर द्वारा कहे गये शब्द के सदृश हैं ।[78] कहा जाता है कि 'क्रियाकाण्ड का भावनायोग' (रहस्यवाद) स्वयं प्रभु की प्रत्यक्ष उपस्थिति का सिद्धान्त है। वस्तुतः इस भावनायोग का अर्थ है–ईश्वर अपने पूर्णरूप में पूजक के समक्ष उपस्थित होता है। 'यथा पिंडे तथा ब्रह्माण्डे' के अनुसार पृथ्वी पर भी सभी घटनाएं प्रभु के मन में गुजरती घटनाओं के प्रतिबिंब मात्र हैं।[79] 'थियासोफी का भावनायोग' में थियासोफी के तीन महासिद्धान्तों का योग होता है। प्रथम सिद्धान्त में परमतत्व (ईश्वर) का स्वभाव वर्णन निहित है जिसके अनुसार ईश्वर के दो स्वरूप हैं–सर्वातीत भाव एवं सर्वव्यापक भाव अर्थात् अव्यक्त एवं व्यक्त, निर्गुण एवं सगुण भाव। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य प्रभु का ही आविर्भाव है। इस मनुष्य के भी सर्वातीत एवं सर्वव्यापक भाव हैं। तीसरे सिद्धान्त के अनुसार दैवी चेतना विश्व को इस प्रकार संचालित करती है कि मनुष्य अपने सर्वव्यापक स्वरूप से विकास कर अपने भीतर निहित ईश्वरीय अंश को पहचानता हुआ अपने सर्वातीत भाव (निर्गुण भाव) का अनुभव करे।[80]

हर देश का अपना रहस्यवादी साहित्य होता है जिसमें साधन एवं उससे संबद्ध अनुभूतियों का विवरण रहता है। लेकिन उक्त साधन एवं अनुभूतियों के रूप भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। इस आधार पर डॉ० त्रिपाठी ने रहस्यवाद के दो रूप निर्धारित किये हैं–साधनात्मक रहस्यवाद एवं अनुभवात्मक रहस्यवाद, जो सर्वत्र सुलभ हो सकते हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने रहस्यवाद के अन्य रूप की भी चर्चा की है जिसमें अज्ञान के प्रति स्वाभाविक कौतूहल एवं जिज्ञासा का भाव व्यक्त किया जाता है।[81]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऊपर विविध दृष्टियों से रहस्यवाद के अनेक भेदों की चर्चा की गयी है। समग्र रूप से उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में रखते हुए रहस्यवाद के कई भेद निर्धारित किये जा सकते हैं जिनमें लगभग सभी भेदों-प्रभेदों का समावेश हो जाता है। जैसे—(1) भक्तिपरक रहस्यवाद, (2) कर्मपरक रहस्यवाद, (3) ज्ञानपरक रहस्यवाद, (4) योगपरक रहस्यवाद, (5) प्रकृतिपरक रहस्यवाद, (6) कर्मकाण्डात्मक अथवा याज्ञिक रहस्यवाद।

रहस्यवाद का साध्य

रहस्यवाद की परिभाषा का निर्धारण करते समय रहस्यवाद के साध्य को भी ध्यान में रखा गया है। हमने देखा है कि विश्वात्मक परमात्मसत्ता ही रहस्यवाद का साध्य है, लक्ष्य है। विश्वचेतना ही विश्वात्मक सत्ता है जो सर्वव्यापक, सर्वातीत, सत्य-शिव-सुंदर, सच्चिदानन्दस्वरूप, पूर्ण एवं नित्य होती है। वह एक मात्र एवं अद्वितीय है। उसे बताने के लिए किसी अन्य परिचित विशेषता की सहायता लेने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

उक्त विश्वात्मक परमात्मसत्ता का स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। वह अमूर्त अथवा भावात्मक ही समझा जाता है। फिर भी रहस्यवादियों ने उसे मूर्त्त अथवा व्यक्तिपरक रूप भी प्रदान किया है। उस निरपेक्ष सत्तामात्र की संज्ञा रूप में 'निर्वाण' अथवा 'ताओ' जैसे शब्दों का व्यवहार किया गया है। साथ ही उसे 'गॉड' अथवा 'जेहोवा' जैसे नाम देकर भी किसी विलक्षण व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। इसके मूल में धार्मिक भावनाओं एवं सामाजिक संस्कारों का हाथ हो सकता है।[82] हिंदू धर्म के अंतर्गत राम, कृष्ण, शंकर आदि नाम भी उपर्युक्त प्रयास के ही प्रतिफल माने जा सकते हैं। एक अन्य लेखक ने लिखा है—"रहस्यवाद के लिए अंतर्ज्ञान के द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार आवश्यक है, इसी प्रकार धर्म रहस्यवाद के अधिक समीप है, दर्शन (फिलासाफी) कम । धर्म परमात्मा-विषयक है, परन्तु वह अंतर्ज्ञान को साक्षात्कार के लिए अनिवार्य नहीं मानता। धर्म के लिए परमात्मा विषयक तर्कपूर्ण दार्शनिक विचार भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना अंर्तज्ञान द्वारा साक्षात्कार। धर्म का एक दूसरा उद्देश्य मोक्ष या स्वर्ग भी माना जाता है। परन्तु रहस्यवाद में स्वयं परमात्मा ही आदि है और परमात्मा ही अंत। उसमें दिव्य योनि, सुख-योग, स्वर्ग आदि साध्य नहीं हो सकते। साध्य तो केवल परमात्मा का साक्षात्कार तथा उसका शांत-निश्चल आस्वादन है.....धर्म का साध्य तथा विषय रहस्यवाद के बिल्कुल निकट है तथा परमात्मा का ही ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति के लिए आवश्यक है।" सच्चा भक्त रहस्यवादी ही हो सकता है। कुछ अंशों में रहस्यवाद के बिना भी भक्ति संभव है। इस प्रकार भक्ति साहित्य को हम रहस्यवादी साहित्य के अन्तर्गत ले सकते हैं जहाँ वह हमें रहस्यवाद का अर्थ सिद्ध

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करता दिखायी दे''। प्रो० रानडे मानते हैं कि ''रहस्यवादी भक्त तो होगा ही। रहस्यवाद की फलमयता ही भक्ति में है। भक्त भी रहस्यवादी हो सकते हैं।''[83]

दैवी सत्ता अथवा परमपवित्र तत्व के साथ संयोग (यूनियन) ही रहस्यवाद का लक्ष्य है। उक्त संयोग (यूनियन) का मार्ग निम्नलिखित चार अवस्थाओं द्वारा सामान्यतः विकसित होता है—(शारीरिक इच्छाओं का) शोधन या रेचन, (संकल्पशक्ति का) पूतीकरण, (मन का) ज्ञान प्रकाश, और (दैवी सत्ता के साथ जीव का) एकीकरण।[84] इस प्रकार इन अवस्थाओं के क्रम में व्यक्ति आत्मा का विश्वात्मा में विलय हो जाता है। इसी तथ्य की कामना बृहदारण्यकोपनिषद् में बड़े ही सुंदर रूप में की गयी है। वहाँ कहा गया है—''असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतंगमय।''[85] तात्पर्य यह है—मुझे असत् से सत् की और ले जाओ, मुझे अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाओ, मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ। यही वस्तुतः रहस्यवाद का लक्ष्य है जहाँ रहस्यवादी साधक परमात्म सत्ता को उपलब्ध करने का प्रयत्न करता है।

रहस्यवाद के साध्य विश्वात्मक परमात्मसत्ता के स्वरूप के संबंध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसीलिए औपनिषद ऋषियों ने उसे अगम, अगोचर, अनिर्वचनीय आदि विशेषणों से विभूषित किया है । केन, तैत्तिरीय आदि उपनिषदें उसे अवाङ् मनोगोचर बताती हैं। केनोपनिषद् के अनुसार उस तक नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता (न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो)। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार मन, वाणी से वह अप्राप्य है (यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह)।[86] उपनिषदों ने अंततः उसे नेति-नेति की वाणी द्वारा ही व्यक्त किया है—स एष नेति नेत्यात्मा। बृहदारण्यकोपनिषद् उसे नेति नेति मानती हुई कहती है कि वह अगृह्य है, अशीर्य है, असंग है, कहीं बँधा नहीं है, उसका क्षय नहीं होता।[87]

इस प्रकर विश्वात्मक परमात्मसत्ता जो अवाङ् मनोगोचर है और नेति-नेति द्वारा ही अभिव्यक्त हो सकता है, रहस्यवाद का साध्य है। रहस्यवाद में परमात्मा ही सबकुछ है। केवल परमात्मा का साक्षात्कार और उसका शांत-निश्चल आस्वादन ही रहस्यवाद का लक्ष्य है। धर्म का एक उद्देश्य है मोक्ष अथवा स्वर्ग की उपलब्धि, लेकिन रहस्यवाद के साथ ऐसी बात नहीं है, यहाँ तो परमात्मा का साक्षात्कार ही आदि और अंत है। रहस्यवाद के लिए अन्तर्ज्ञान द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार आवश्यक है। हमने ऊपर देखा है कि उक्त साक्षात्कार का मार्ग चार अवस्थाओं द्वारा विकसित होता है—(1) (शारीरिक इचछाओं का) शोधन या रेचन, (2) (संकल्पशक्ति का) पूतीकरण, (3) (मन का) ज्ञानप्रकाश, (4) (दैवीसत्ता के साथ जीव का) एकीकरण। इन अवस्थाओं द्वारा जीवात्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेती है। इसे ही बृहदारण्यकोपनिषद् 'मृत्योर्माऽमृतंगमय' द्वारा व्यक्त करती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहस्यवाद की साधना

साध्य की उपलब्धि के लिए जिस मार्ग या माध्यम को अपनाया जाता है उसे साधन कहते हैं। उक्त मार्ग या माध्यम की क्रियारूप में परिणति को साधना कहते हैं। अनेक पाश्चात्य विचारकों ने रहस्यवाद की साधना पर विचार किया है। रहस्यवाद के साध्य का विवेचन करते समय हमने देखा है कि दैवीसत्ता के साथ संयोग (यूनियन) का मार्ग चार अवस्थाओं द्वारा सामान्यतः विकसित होता है। लक्ष्य की ओर प्रयाण के समय स्वाभाविक रूप से अनेक अवस्थाओं एवं प्रक्रियाओं से होकर साधक को गुजरना पड़ता है। ये अवस्थाएँ एवं प्रक्रियाएँ विभिन्न सामाजिक परंपराओं के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। प्रार्थना, शुद्धिकरण और ध्यान के नियम दैवी चरम सत्ता के साथ संयोग (यूनियन) में पराकाष्ठा ला देते हैं। इस प्रक्रिया में व्यक्तितत्व का रूपान्तरण (ट्रांसफार्मेशन) हो जाता है। लौकिकता समाप्त हो जाती है, साधक दिव्य एवं पवित्र हो जाता है।[88] कैथोलिक धर्माचार्यों द्वारा रहस्यवाद का मार्ग सामान्यतः तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है—(1) शोधन अथवा रेचन (परगेशन) का मार्ग, (2) ज्ञानप्रकाश (इल्यूमिनेशन) का मार्ग (सुविज्ञता और ध्यान की अवस्था), (3) संयोग (यूनियन) का मार्ग। यह विभाजन स्थूलरूप में किया गया है। यह रहस्यवादियों द्वारा सार्वभौम रूप में स्वीकार्य नहीं हो सकता, फिर भी यह विभाजन रहस्यवाद की साधना के मार्ग की अवस्थाओं को स्थूल रूप में द्योतित करता है।[89] एक अन्य लेखक ने भी रहस्यवाद के मार्ग को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है जो अधिक संतोषप्रद और वास्तविक है। ये अवस्थाएँ हैं—(1) क्रियात्मक जीवन—जिसमें जीवन ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित रहता है, लेकिन यह अन्तर्मुखी मनुष्य का जीवन नहीं होता है। (2) आंतरिक जीवन—यह अंतर्मुखी मनुष्य का पूर्ण जीवन होता है जो पूर्ण संयोग (यूनियन) के इतना निकट होता है कि दोनों में विभेद नहीं किया जा सकता और (3) ईश्वर-दर्शी जीवन—जो पूर्ण और चिर-उपलब्धि का जीवन होता है।[90]

आत्मा का शोधन रहस्यवाद के मार्ग में प्रथमचरण है। शोधन के मार्ग के दो मुख्य उद्देश्य हैं—प्रथमतः भौतिक वस्तुओं के प्रति लगाव से विराग हो जाता है एवं अहं से पूर्ण जीवन का विनाश हो जाता है जिससे ईश्वर से साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। दूसरे, पूर्व अवधारणाओं का निरंतर शोधन होता रहता है और आत्मा का द्वार प्रशस्त होता रहता है। इससे आत्मा का पूर्ण रूपान्तरण हो जाता है और वह ज्ञानज्योति से ज्योतित हो जाती है।[91] ध्यान शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(1) रहस्यवादी चेतना की एक अवस्था के रूप में, तथा (2) जानने के एक मार्ग के रूप में। ध्यान की अवस्था में स्वयं का विस्मरण कराने वाली एकाग्रता, एक नम्र आशुग्राह्यता, निर्निमेष दृष्टिपात, दृढ़ एकाग्रचित्तता पायी जाती है जिसमें सभी भाव,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इच्छाशक्ति और विचार तिरोहित हो जाते हैं। इस प्रकार सघनतर स्वसमर्पण द्वारा द्रष्टा और द्रष्टव्य के बीच ऐक्य की स्थित आने लगती है। संयोगात्मक जीवन (यूनिटिव लाइफ) अथवा परमतात्विक जीवन आत्मा की अंतिम विजय के सदृश एक पूर्ण और स्थायी एकीकरण की प्राप्ति है और अंतर्बाह्य दोनों में पुनर्मिलन हैं। यहाँ आत्मा उस परमतत्व के साथ एकाकार हो जाती है जो सभी दृश्यमान वस्तुओं से परे हैं अर्थात् आत्मा और ईश्वर तदाकार हो जाते हैं। ईश्वर के साथ आत्मा के संयोगात्मक जीवन को कभी-कभी आध्यात्मिक विवाह के रूप में भी माना जाता है जिसमें प्रेम और ज्ञान की घनिष्ठ स्थायी और आनंदात्मक एकता स्थापित हो जाती है।[92]

अंडरहिल के अनुसार सच्चा रहस्वादी हर्ष और वेदना की विविध दोलायमान दशाओं के बीच गतिशील होता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। अंडरहिल ने रहस्यवादी मार्ग की पाँच क्रमिक दशाओं का वर्णन किया है। प्रथमतः आत्मजागरण की दशा है जिसमें दैवी चेतना के प्रति एक विचित्र अनुभूति अपने–आप होने लगती है। उक्त अनुभूति में आध्यात्मिक हर्ष होता रहता है। दूसरी दशा आत्मज्ञान (सेल्फ नालेज) की है। इस दशा में साधक प्रथम बार दैवी सौन्दर्य के प्रति जागरूक होता है। यहाँ वह अपनी सीमाओं और अपूर्णताओं का अनुभव कर लेता है। दिव्य संयोग (यूनियन) को प्राप्त करने के लिए इस दशा में अनेक प्रयत्न किये जाते हैं जिससे व्रिभिन्न बाधाओं का उच्छेदन हो सके। इस प्रकार से इस दशा को आत्म अनुशासन अथवा आत्मशोधन की दशा कह सकते हैं। आत्मशोधन (परगेशन) के बाद की तीसरी दशा ज्ञानप्रकाश (इल्यूमिनेशन) अथवा उद्भासन की है। इसे ईश्वरीय सत्ता के सान्निध्य का द्योतक प्रकाश भी कहा जा सकता है। इसमें आध्यात्मिक विवाह के गुण आयत्त हो जाते हैं। ज्ञानप्रकाश (इल्यूमिनेशन) में निरपेक्ष सत्ता का कुछ परिचय मिल जाता है, दैवी उपस्थिति का एक आभास होने लगता है, लेकिन यह वास्तविक ईश्वरीय संयोग (यूनियन) नहीं है। यह एक हर्ष की अवस्था है । चौथी दशा में आत्मसमर्पण की स्थिति आती है । वैयक्तिक आनन्द की मानवीय प्रकृति का वध आवशयक है और इसे ही रहस्यवादी लोग आध्यात्मिक दृष्टि से सूली पर चढ़ाना कहते हैं। यह महान निराश्रयता की दशा है जिसमें आत्मा अपने को परमात्मा द्वारा परित्यक्त अनुभव करती है। ऐसी स्थिति में साधक अधीर होकर सर्वतोभावेन ईश्वरीय सत्ता के समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है। वह अकाम हो जाता है, मूकवत बना रहता है। अंततः उसे संयोग या मिलन का आभास होने लगता है। रहस्यवादी में पाँचवीं दशा संयोग की है जो रहस्यवादी अन्वेषण का वास्तविक लक्ष्य है। इस दशा में आत्मा निरपेक्ष सत्ता के साथ एकमेक हो जाती है। यह संतुलन की दशा कही जा सकती है अथवा इसे पवित्र आध्यात्मिक जीवन कहा जा सकता है। उक्त जीवन में शांतिजन्य आनन्द, वर्धित शक्ति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एवं निःसंदिग्ध दृढ़ निश्चय की विशेषताएँ समाविष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार संयोग या मिलन निश्चय ही रहस्यवादी विकास का वास्तविक लक्ष्य है।[93]

अन्य साधना-पद्धतियों में रहस्यवादी साधना के विविध मार्गों का विधिवत विवेचन किया गया है। आगे उन पर विधिवत विचार किया गया है। यहाँ कुछ संकेत द्रष्टव्य है। सूफी साधना में अनेक मंजिलों, अवस्थाओं और मुकामों का वर्णन किया गया है। यों सभी सूफी साधक इनमें नामों एवं प्रकारों के संबंध में एकमत नहीं हैं। कुछ सूफी ईश्वर तक पहुँचने की चार मंजिलों और चार अवस्थाओं की चर्चा करते हैं तो कुछ तीन मंजिलें ही स्वीकार करते हैं। कुछ सूफी साधक बारह मुकामात और अवस्थाओं की बात करते हैं, तो अन्य साधक सूफीमार्ग की सात मंजिलें मानते हैं। उदाहरणार्थ चार मंजिलें और चार अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—शरीअत, तरीकत, मारिफत, हकीकत तथा नासूत, मलकूत, जबरूत, लाहूत।[94] भारतीय साधना के अन्तर्गत योगसाधना, कर्मसाधना, भक्तिसाधना और ज्ञानसाधना की गणना की जाती है। इन साधनों द्वारा परमात्मसत्ता की प्राप्ति संभव है। इनका परिचय दूसरे खंड में द्रष्टव्य है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रहस्यवादी साधना में एक क्रमिक विकास सर्वत्र दिखायी पड़ता है जिसमें शारीरिक, मानसिक, हार्दिक और दिव्य एकीकरण की विविध क्रमिक अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। क्रमशः बाह्यसाधना से अंतः साधना की ओर गतिशीलता स्पष्ट है। पूर्ण दिव्य रूपान्तरण के पश्चात् समर्पणपूर्ण ऐक्य की स्थिति के उपरान्त आनन्दपूर्ण संयोगात्मक जीवन की व्यापकता सर्वत्र दिखायी पड़ती है। शब्दान्तर से इसे आध्यात्मिक विवाह भी कहते हैं, वस्तुतः ये अवस्थाएँ देश, काल और साधक व्यक्तित्व के अनुसार भिन्न-भिन्न होती हैं, किन्तु पूर्ण दिव्य एवं आनन्दपूर्ण संयोगात्मक जीवन की विविध अनुभूतियों के संबंध में प्रायः मतैक्य दिखायी पड़ता है। इस प्रकार संयोग या मिलन अथवा संयोगात्मक जीवन इस रहस्य साधना एवं उसकी विकास की अवस्थाओं का वास्तविक लक्ष्य है। इसी स्थिति को प्राप्त करने के लिए सूफी और विविध भारतीय साधनाओं में शब्दान्तर से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है और इसी प्रकार शब्दान्तर से ही वे अपने लक्ष्यों का निर्वचन भी करते हैं। भारतीय रहस्य साधना में अंतर्भूत कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति की विविध व्याख्याएँ मिलती हैं जिनमें भक्ति का विस्तार और प्रभाव अप्रतिम है। इन साधन मार्गों के साधन और लक्ष्य में भिन्नता का आधार व्यक्ति साधक है, यद्यपि सामान्य विशेषताएँ वैश्व रहस्य साधन मार्गों में लगभग समान हैं।

रहस्यवादी साधक और उसका जीवन

विश्व चेतना ही विश्वात्मक सत्ता है जो सर्वव्यापक, सर्वातीत, सच्चिदानन्दस्वरूप आदि है। वह एकमात्र और अद्वितीय है। वह विश्वात्मक परमात्मसत्ता ही रहस्यवाद का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साध्य है उसे ही प्राप्त करने के लिए रहस्यवाद का साधक निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। सामान्यतः हम जानते हैं कि रहस्यवाद का साधक अलौकिक शक्ति संपन्न हो जाता है, क्योंकि वह अनन्त एवं अलौकिक परमात्मसत्ता का साधक होता है। उस अनंत का साधक होने के कारण ही रहस्यवादी साधक के जीवन का पूर्ण सत्य वर्णनातीत होता है। वाणी के माध्यम से रहस्यवादी के जीवन सत्य को अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए औपनिषद ऋषि ने मौनावलंबन द्वारा ही ऐसे प्रश्नों का उत्तर दिया है। वह परमात्मसत्ता अनिर्देश्य है। इसकी उपलब्धि करना ही रहस्यवादी साधक के जीवन का पूर्ण सत्य है। बाष्कलि ऋषि द्वारा ब्रह्म के संबंध में अनेक बार पूछे जाने पर ऋषि ने मौन धारण कर लिया। ऋषि ने उन्हें मौनावलंबन के द्वारा ही ब्रह्म के संबंध में बताया। तात्पर्य यह है कि उसे वाणी आदि द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।[95] इस संबंध में एक लेखक ने लिखा है—"भावनायोग (रहस्यवाद) के जीवन का पूर्ण सत्य, चाहे कितना भी वर्णन किया जावे, पूर्णरूप से प्रकट नहीं किया जा सकता। इसीलिए प्राचीन ग्रीक लोगों ने सत्य कहा है रहस्यक्रियाओं में जो बातें देखी जाती हैं वे उनके प्रति मौन रहने को बाध्य रहती हैं। उसी प्रकार प्रत्येक भावनायोग के हृदयभाग का वर्णन नहीं हो सकता।"[96]

एवलिन अंडरहिल के अनुसार सच्चे रहस्यवादी पुरुष की शक्तियाँ कलात्मक और दृश्य अवस्था से भी कहीं ऊँची उठ जाती हैं और जो उसकी प्रतिभा तक का स्थान ले सकती है। उसकी सर्वातिशायी चेतना सामान्य चेतना को भी प्रभावित कर देती है तथा ऐसा व्यक्ति निश्चयतः परमतत्व के प्रति पूर्णतः आत्म समर्पण कर देता है। एक उच्चकोटि के रहस्यवादी और कलाकार की मानसिक स्थिति तत्वतः अभिन्न होती हुई भी भिन्न-भिन्न है। कलाविद् भौतिक जगत् से एक विचित्र संबंध स्थापित करता है जिसमें वह अन्य मनुष्यों के लिए गुप्त छंद की उपलब्धि तथा सत्य एवं सौंदर्य का अन्वेषण करता है। इस प्रकार वास्तविक रहस्यवादी सर्वातीत जगत से विशिष्ट संबंध स्थापित करता है जिसमें वह वास्तविक परन्तु हम लोगों के लिए कल्पनातीत, उद्वेग और आनन्द का अनुभव करता है। उसकी चेतना एक विशिष्ट रूप में रूपान्तरित हो जाती है। वह सामान्य मनुष्यों से भिन्न अनुभव के स्तर पर रहता है। वस्तुतः इसका तात्पर्य यह है कि वह एक भिन्न संसार को देखता है, क्योंकि यह संसार एक सामान्य एवं अरूपान्तरित चेतना द्वारा क्रियाशील यथार्थता के पहलुओं का परिणाम है। अतः उसका रहस्यवाद कोई विलग दृष्टि, यथार्थता की क्षणिक झलक नहीं है, अपितु स्वयं के दायित्व एवं आभार से युक्त जीवन की एक पूर्ण पद्धति है। जैसे अन्य लोग प्राकृतिक अथवा बौद्धिक जीवन में निमग्न रहते हैं और अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार रहस्यवादी आध्यात्मिक जीवन में निमग्न रहता है एवं अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

करता है। रहस्यवादी ईश्वर के साथ संयोग (यूनियन विथ गाड) की ओर निरन्तर गतिशील रहता है। उसे एक एकाकी आत्मा कहा गया है। वस्तुतः उसे एक एकाकी शरीर के रूप में वर्णित किया जा सकता है, क्योंकि उसकी विशिष्ट संवेदनशील आत्मा प्रत्येक दिशा से संवादों का प्रेषण और ग्रहण करती है।[97]

श्रीमद्भगवद्गीता में रहस्यवादी साधक के अनेक लक्षणों का वर्णन किया गया है। गीता में आदर्श पुरुष के जो लक्षण बताये गये हैं वे रहस्यवादी साधक के भी लक्षण हैं। ऐसे पुरुषों को 'योगस्थ', 'स्थितप्रज्ञ', 'स्थितधी' आदि कहा गया है। जो पुरुष आसक्ति को त्याग कर तथा सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धिवाला होकर अनासक्त भाव से कर्मों को संपादित करता है उसे 'योगस्थ' कहा गया है। स्थितप्रज्ञ उसे कहा गया है जो मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं का परित्याग कर देता है और इस प्रकार जो आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट होकर रहना जानता है। इसी प्रकार गीता में ऐसे पुरूष को स्थितधी कहा गया है जो दुःखों की प्राप्ति में अनुद्विग्नमना है तथा सुखों की उपलब्धि में जिसकी स्पृहा समाप्त हो गयी है और राग, भय, क्रोध नष्ट हो गये हैं।[98] रहस्यवादी साधक इन्हीं लक्षणों से युक्त होता है। गीता के अनुसार हम कह सकते हैं कि रहस्यवादी साधक ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त महापुरूष के सदृश होता है। कहा गया है कि प्रिय को प्राप्त कर जो न हर्षित होता है और अप्रिय को प्राप्तकर जो न उद्विग्न होता है ऐसे स्थिर बुद्धि, संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरूष को परमात्मा में एकीभाव से नित्य स्थित कहा गया है। ऐसा पुरूष नित्य ही सुखपूर्वक ब्रह्मसंस्पर्श का सुखानुभव करता है।[99] इस प्रकार योगस्थ होना, स्थितप्रज्ञ एवं स्थितधी होना, ब्रह्मविद् होना, ब्राह्मीभूत होना अथवा ब्रह्म के अत्यन्त उत्कृष्ट संस्पर्शजन्य आनन्द का सुखपूर्वक उपभोग करना आदि रहस्यवादी साधक के विशिष्ट लक्षण कहे जा सकते हैं।

रहस्यवादी साधक की कुछ ऐसी विशिष्ट विशेषताएँ होती हैं जिससे वह अन्य व्यक्तियों से विलक्षण प्रतीत होता है। रहस्यवादी साधक किसी मरीज के सदृश नहीं होता। एक ओर मरीज अपनी शरीरिक मानसिक पीड़ाओं से पीड़ित रहता है तो दूसरी ओर रहस्यवादी साधक कुछ हद तक उक्त पीड़ाओं का स्वामी होता है। वह हिस्टिरिया के रोगी से भी भिन्न होता है। रहस्यवादी साधक की उपलब्धि की प्रक्रिया यद्यपि कठिन एवं असामान्य होती है, फिर भी वह अस्वाभाविक नहीं होती। सभ्यता और संस्कृति के अंतर्गत ग्राह्य व्यवस्था से वह विमुख रहता है। वह संपूर्ण भौतिक व्यवस्था का परित्याग कर अपनी क्रियाशीलता के लिए वस्तु-व्यवस्था के स्थान पर विचारणा (कांटेंप्लेशन) को महत्व देता है। वह समाज के स्थान पर एकान्त को स्वीकार करता है। वह तर्क के स्थान पर आध्यात्मिक आनन्द में मग्न रहता है। वस्तुतः रहस्यवादी साधक के जीवन के मूल्य को समझने के लिए अन्तःप्रवेशिनी दृष्टि की आवश्यकता होती है। बौद्धिक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शंकाओं अथवा उलझनों से वास्तविक रहस्यवादी उद्विग्न नहीं होता है। दार्शनिक समस्याएँ अथवा उलझनें उसे उलझन में नहीं डालतीं।[100] उपर्युक्त विवरण के आधार पर कहा जा सकता है कि रहस्यवादी साधक एक प्रकार से इन सबका समाधान होता है। वह सांसारिक आचार-विचार, व्यवस्था तथा उससे उत्पन्न उलझनों से परे होता है। वे उलझने उसे उलझा नहीं सकतीं।

रहस्यवादी वह व्यक्ति होता है जो सामान्य अवबोध (अंडरस्टेंडिंग) से परे सत्य के आध्यात्मिक ज्ञान में विश्वास करता है। रहस्यवादी के संबंध में बहुत प्राचीनकाल में कहा जाता था कि वह दिव्य तत्वों का ज्ञान प्राप्त करता है, लेकिन वह उक्त ज्ञान के संबंध में मौन रहता था। रहस्यवादी साधक के संबंध में यह भी कहा जाता है कि वह कभी भी मन्दोत्साह (ल्यूकवर्म), उदासीन अथवा पीड़ित नहीं रहा। उसके लिए रहस्यवाद ही सब कुछ होता है अर्थात् रहस्यवाद ही रहस्यवादी की आत्मा का केन्द्र होता है। उसका संपूर्ण जीवन रहस्यवाद से ही संचालित होता है। रहस्यवाद में प्रवेश कर वह परमानन्द का अनुभव करता है। रहस्यवाद का साधक अनैक्य में ऐक्य का दर्शन करता है। अनेकता में एकता की उपलब्धि ही रहस्यवादी साधक का आरंभ है और यही उसका लक्ष्य भी है।[101] अनेकता में एकता की उपलब्धि की बात श्रीमद्भगवद्गीता में भी कही गयी है जो निर्विवाद रूप में सार्वभौम सत्य है। जिस ज्ञान से विविधरूपात्मक जीवों (सर्वभूतों) में एक अव्यय, अविनाशी परमात्मा को अविभक्त रूप में देखा जाता है, वस्तुतः वह सात्विक ज्ञान है।[102] विभक्त में अविभक्त को देखना ही वस्तुतः रहस्यवादी साधक का लक्ष्य है, यही उसका जीवन है और यही उसकी वास्तविक साधना भी है।

सामान्य बौद्धिक पद्धतियाँ रहस्यवादी के लिए कोई महत्व नहीं रखतीं। रहस्यवाद का साधक अपनी रहस्यमयी अभिव्यक्तियों के लिए प्रतीकवाद और पौराणिक शैली का प्रयोग करता है। ये ही उसकी भाषा के मूल तत्व हैं। प्रेम, सौन्दर्य, प्रकृति, ज्ञान और भक्ति के आधार पर रहस्यवादियों के वर्गीकरण किये जा सकते हैं। इनकी साक्षात्कार पद्धति, भावों के अर्थनिरूपण अथवा प्रयोग आदि में पर्याप्त भेद मिलता है।[103]

सभी युगों और देशों के रहस्यवादी साधक एक शाश्वत दैवी समाज का निर्माण करते हैं। उनमें कोई जातिगत, संप्रदायगत, राष्ट्रगत पूर्वग्रह नहीं होता। उनके रहस्यात्मक अनुभव के शाश्वत एवं अनन्त स्वरूप पर देश और काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। रहस्वादियों के चिंतन और विचार देश कालातीत होते हैं। पश्चिमी जगत् के रहस्यवादी हों अथवा पूर्वी जगत् के, उन सबके उपदेश, विचारधारायें एक समान होती हैं। उनमें घनिष्ठ संबंध होता है। एक आदर्श रहस्यवादी, किसी भी देश अथवा काल का क्यों न हो, ईर्ष्या, घृणा, राग-द्वेष, बौद्धिक तर्क-वितर्क आदि से परे होता है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वह संपूर्ण भौतिक संसार को आत्मवत देखता है और समझता है। वह आप्तकाम होता है, क्योंकि उसकी सर्वाधिक बड़ी कामना भी पूर्ण हो गयी रहती है अर्थात् आत्म साक्षात्कार कर लेने पर सब कुछ की प्राप्ति होती है। प्लोटिनस के विचार उपनिषदों अथवा मराठा सन्तों ज्ञानेश्वर, रामदास आदि से मिलते-जुलते हैं।[104]

प्रायः रहस्यवादियों को दो विभिन्न दृष्टियों से देखा जाता है—प्रथमतः, रहस्यवादी प्रधानतः अंतर्मुखी होते हैं तथा दूसरे, किन्हीं विशेष दशाओं में बहिर्मुखी होते हैं। रहस्यवादी साधकों के अंतर्मुखी होने का तात्पर्य यह है कि ऐसी दशा में वे अपने बाह्येन्द्रिय विषयों से अनिभिज्ञ रहते हैं। उनकी संवेदनाओं, भावनाओं, मानसिक चित्रणों एवं विचारों का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है। फलतः उन्हें अपने संवेदनों, कामनाओं, संकल्पों को कार्यक्रम में परिणत करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। इस समय सामान्य चेतना कुंठित हो जाती है और यह साधकों की समाधि की अवस्था होती है। इस दशा में विशुद्ध चेतना मात्र ही रह जाती है जिसकी विलक्षण अनुभूति को स्वानुभूति, रहस्यानुभूति, ईश्वरोपलब्धि अथवा निर्वाण आदि नामों से अभिहित किया जा सकता है। रहस्यवादी साधकों की बहिर्मुखी वृत्ति में अपने बाह्येन्द्रिय के संपूर्ण विषय यथापूर्व अनुभव में आते रहते हैं, लेकिन रहस्यवादी साधक ऐसी दशा में उन्हें उसी रूप में नहीं समझता, जिस रूप में साधारण मनुष्य समझते हैं। यह सभी भेदों में अभेद दृष्टि रखने के सदृश है। इसे ही ईसाई रहस्यवादी मिस्टर एरवार्ट ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"ऐसी दशा में सभी घास के पत्ते, काष्ठ एवं प्रस्तर खंड तक, सारे के सारे एक बन जाते हैं।........मनुष्य अपने केवल मात्र बोध की दशा में कब रहता है? जब वह किसी एक पदार्थ को दूसरे से पृथक देखता है और किसी दशा में वह ऐसे अनुभव के स्तर से ऊपर आ जाया करता है? जब वह सबको सभी में देखने लग जाता है और वह केवल बोधमात्र से ऊपर उठ जाया करता है।" इसका तात्पर्य यह है कि रहस्यवादी साधक किसी वस्तु को अन्य वस्तुओं से पृथक भी देखता है एवं साथ ही उनकी अनेकता में एकता के भी दर्शन करता है। एक सच्चे पूर्ण रहस्यवादी साधक में दोनों प्रकार की वृत्तियों का संतुलित रूप देखा जाता है। वस्तुतः ये दोनों वृत्तियां एक ही दशा विशेष के दो पक्ष हैं जो एक दूसरे के पूरक मात्र कहे जा सकते हैं। इस प्रकार एक सच्चा रहस्यवादी परमात्मा सत्ता के प्रति पूर्ण रूप से आत्म समर्पित होता है। उसकी चेतना सर्वातिशायी होती है जो सामान्य चेतना को प्रभावित कर लेती है।[105]

इस प्रकार ऊपर के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रहस्यवादी साधक का एक रूप ऐसा व्यक्त होता है जो सब प्रकार की कामनाओं से रहित होता है, राग-विराग से परे होता है। सांसारिक आदान-प्रदान, भौतिकवादी व्यवस्था, मानापमान आदि का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। एक प्रकार से वह सामाजिक व्यक्ति नहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

होता है। उसके सारे क्रियाकलाप समाज की दृष्टि से उलटे होते हैं, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से सत्य होते हैं। रहस्यवादी व्यक्ति बाह्यरूप में अव्यावहारिक, अव्यवस्थित प्रतीत होता है, लेकिन वस्तुतः वह वास्तविक रूप में व्यवस्थित होता है। वह सर्वभावेन ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पित होता है, इसीलिए उसका संपूर्ण जीवन ही ईश्वरीय ध्यान, चिंतन-मनन में लगा होता है।

रहस्यवादी साधक आत्मकाम होने के कारण आप्तकाम, निष्काम, अकाम होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है कि जो पुरूष अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता, वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त करता है—"यो कामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्यप्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।" शांकरभाष्य में कहा गया है कि आत्मकाम होने से कामनाओं की प्राप्ति होती है। जिसकी कामना का विषय आत्मा ही है, अन्य कोई वस्तुगत पदार्थ नहीं है, अर्थात् जिसके लिए आत्मा ही सब कुछ है, वह किसके द्वारा किसे देखे, सुने, मनन करे अथवा जाने? अतः जो भी आत्मकाम होने के कारण आप्तकाम होता है, वही निष्काम, अकाम और कामना न करने वाला भी है।[106]

बृहदारण्यकोपनिषद् में ही अन्यत्र कहा गया है कि व्यवहार में जिस प्रकार अपनी प्रिया स्त्री का आलिंगन करने पर पुरुष को न कुछ बाहर का ज्ञान रहता है और न भीतर का, इसी प्रकार यह पुरुष प्रज्ञात्मा से आलिंगित होने पर न कुछ बाहर का विषय जानता है और न भीतर का। यही इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है।[107] इसका तात्पर्य यह है कि संपूर्ण सचराचर जगत् को आत्मवत् देखनेवाला पुरूष ही आत्मकाम होता है। ऐसे पुरूष को कोई कामना अथवा विषयवस्तु आन्दोलित नहीं कर सकती। रहस्यवादी साधक की यही स्थिति होती है जिसे बृहदारण्यकोपनिषद् ने बड़े ही सटीक एवं सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि रहस्यवादी साधक का जीवन एक सांसारिक पुरुष की तरह नहीं होता। इसीलिए लौकिक दृष्टि से उसका जीवन विशेष उपयोगी नहीं हो सकता, क्योंकि उसके क्रियाकलाप सामाजिक व्यवस्था से भिन्न होंगे। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से उसका जीवन सफल कहा जा सकता है और इसी क्षेत्र में वह समाज का नेतृत्व कर सकता है अथवा समाज के लिए आदर्श बन सकता है।

रहस्यानुभूति का स्वरूप

रहस्यवाद के साध्य की चर्चा करते समय हमने देखा है कि वह अवाङ् मनोगोचर है, इन्द्रियातीत है। उसे इदमित्थम् रूप में कुछ नहीं कह सकते। इसीलिए औपनिषद ऋषियों ने रहस्यवाद के साध्य परमात्म तत्व का निर्वचन करते-करते अंत में नेति-नेति कहकर ही उक्त निर्वचन का समापन किया है। उक्त रहस्य तत्व अर्थात्

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परमात्म तत्व की रहस्यानुभूति का कथन भी विविध रूपों में किया गया है। अनेक साधकों ने उसे अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। भारतीय रहस्यदर्शियों ने रहस्यानुभूति के स्वरूप को उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। "वेदों में उस रहस्यमय अद्वयात्मक तत्व का विभिन्न स्थलों में संकेत मिलता है। इन संकेतों का उपवृंहित रूप उपनिषदों में द्रष्टव्य है। उपनिषद् के व्याख्याकारों ने उसे सत्, चित और आनन्दमय बताया है और कहा है कि यह उस गुह्य तत्व का स्वरूप लक्षण है। सृष्टि का निर्माण, स्थापन और संहरण जैसी क्रियाओं का कर्तृत्व उसका तटस्थ लक्षण है। उपनिषदों के अद्वैतवादी व्याख्याकार शंकर ने उसे निर्विशेष और अद्वैततत्व के रूप में प्रतिपादित किया है, किन्तु भक्ति मार्गी वैष्णवों ने स्वयं द्वैतवादी भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर उसके सविशेष और सगुण रूप का सबल प्रतिपादन किया है। विशिष्टाद्वैतवादी उस गुह्य अद्वैततत्व को चित्त और उचित जैसे विशेषणों से विशिष्ट बताते हैं। शुद्धाद्वैतवादी शंकर की भाँति उस अद्वैत को 'मायाशबल' न कहकर 'शुद्ध' प्रतिपादित करते हैं। इसी प्रकार द्वैत, अद्वैत एवं अचिन्त्य भेदाभेदवादीदार्शनिकों ने उस गुह्य तत्व को किसी प्रकार सविशेष ही कहना चाहा है।"[108]

जो भी हो, वह रहस्यमय तत्व रहस्यमय ही है। उसकी अनुभूति भी रहस्यमय ही है। इसी प्रकार कोई भी रहस्यदर्शी उक्त रहस्यानुभूति को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सका है। वस्तुतः उस रहस्यमय तत्व की रहस्यानुभूति मात्र अनुभवगम्य है। सभी रहस्यवादी साधकों ने रहस्यानुभूति के स्वरूप को अवाङ् मनोगोचर बताया है अर्थात् उक्त अनुभूति का कोई स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार उस रहस्यतत्व का स्वरूप निर्धारण नहीं हो सकता, उसी प्रकार रहस्यानुभूति का भी स्वरूप संभव नहीं है। वह रहस्यतत्व भावात्मक एवं अभावात्मक दोनों है। वह सगुण भी है, निर्गुण भी है तथा उनसे परे भी है। वह जैसा है, वस्तुतः वैसा ही है अर्थात् अनुपमेय है। वाणी द्वारा उसका निर्वचन संभव नहीं है। इसीलिए तो वह रहस्यमय है। रहस्यवादी साधक इसी की अनुभूति के स्वरूप को निर्वचित नहीं कर पाता है। वस्तुतः वह संत कबीर के 'गूँगे केरी सर्करा बैठे मुसुकाई' के सदृश आस्वाद्य है अर्थात् मन ही मन अनुभव करने के लिए है।

रहस्यवाद का तात्पर्य है ईश्वर का मूक आनन्दास्वादन। इस अर्थ में रहस्यवादी अनुभव को प्रायः ही अकथनीय समझा गया है। इस संदर्भ में प्लेटों ने अपने सातवें एपिसिल में लिखा है—"इस विषय पर मेरे द्वारा लिखा हुआ कुछ भी नहीं है, और न कभी होगा। अध्ययन की अन्य शाखाओं की तरह यह अभिव्यक्त करने योग्य नहीं है। यदि यह लिख दिया जाता और संसार में प्रचारित कर दिया जाता, तो यह मानव जाति की महान् सेवा होती।" रहस्यवादी अनुभव का अकथनीय स्वरूप इसके प्रतिभा स्वरूप से जुड़ा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि रहस्यवादी अनुभव वाणी द्वारा वर्णित नहीं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हो सकता। रहस्यवादी उद्यम के क्रम में बुद्धि, संकल्प और भाव ये सभी आवश्यक होते हैं, केवल प्रतिभा को इन सबका सहायक होना चाहिए। रहस्यवादी अनुभव का अकथनीय और प्रातिभ स्वरूप ही वस्तुतः इसका सम्मिलित स्वरूप है जिसने सामान्य और गुह्य समाज की रचना करने से संपूर्ण ईश्वरोन्मुख मानवता की सेवा की है ।[109]

सभी रहस्यवादियों के रहस्यानुभव एक समान होते हैं। कुछ बिन्दुओं पर पश्चिम और पूर्व के रहस्यवादियों के रहस्यानुभव समतुल्य हैं। गंध के इन्द्रियातीत अनुभव के संदर्भ में संतनिवृत्तिनाथ का कहना है कि ईश्वर का अनुभव चंदन से भी अधिक मधुर होता है। वस्तुतः हमारे लिए ईश्वर चमेली अथवा इसके विविध प्रभेदों से भी अधिक सुगंधित होता है। कल्पवृक्ष मनोवांछित फल देता है, लेकिन ईश्वर उक्त वृक्ष से भी अधिक सुरभित होता है। निवृत्तिनाथ का कहना है कि ईश्वर की ज्योति मेरे लिए स्वयं में सौरभ है, सुगंध है। क्रास के सेंट जान से निवृत्तिनाथ की तुलना की जा सकती है। सेंटजान भी उसी प्रकार अपने विचार व्यक्त करते हैं ।[110]

रहस्यवादी अनुभव की वास्तविकता के लक्षण

(1) सार्वभौमिकता का तत्व—पूर्व तथा पश्चिम के रहस्यवादियों के सामूहिक अनुभव से स्पष्ट है कि उनके रहस्यवादी अनुभव में कुछ मात्रा तक सार्वभौमिकता है। ईश्वर के नाम, भक्ति के आवेग, आत्मसाक्षात्कार की प्रवृत्ति आदि के संबंध में उनके उपदेश एक समान हैं। विभिन्न देशों के रहस्यवादियों के अनुभव में शारीरिक, मानसिक और स्वभावगत अंतर हो सकता है, लेकिन रहस्यवादी अथवा प्रातिभ साक्षात्कार के गुणों के संबंध में कोई अंतर नहीं है।

(2) बौद्धिक दृष्टि—रहस्यवादी जीवन में बुद्धि, भावना और संकल्प पूर्णरूप से क्रियाशील रहते हैं। वहीं रहस्यवादी अनुभूति संगत कही जा सकती है जो विचारों के बौद्धिक स्पष्टीकरण की ओर उन्मुख हो । उलझे मस्तिष्क के व्यक्ति, विभ्रान्त परिश्रमरत व्यक्ति, विमुग्ध मनुष्य और स्नायविक विकार से ग्रस्त मनुष्य रहस्यानुभूति के अधिकारी नहीं हो सकते । रहस्यवादी की कल्पना निश्चय ही शक्तिपूर्ण होनी चाहिए। निश्चय ही उसे कुशाग्र, सटीक और प्रत्युत्पन्नमति होना चाहिए। शंकराचार्य, याज्ञवल्क्य, स्पिनोजा, प्लोटिनस, सेंट पाल, ज्ञानेश्वर आदि रहस्यवादियों द्वारा प्रस्तुत महान बौद्धिक रचनाएँ, अमर हैं। बौद्धिक शक्ति और विचार की पूर्ण स्पष्टता रहस्यवादी अनुभव का प्रथम लक्षण है।

(3) भावात्मक दृष्टि—ईश्वरानुभाव की ओर उन्मुख निर्मल भावों की प्रचुरता के अभाव में रहस्यवादी अनुभव संभव नहीं है। भावनाओं को बुद्धि से मंडित होना चाहिए। उसका तात्पर्य यह है कि रहस्यवादी अनुभव के लिए कोई भावुकता ग्राह्य नहीं है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

(4) नैतिक दृष्टि—रहस्यवादी अनुभव की वास्तविकता के लिए व्यक्ति और समाज का एक निश्चित नैतिक विकास आवश्यक है। एक वास्तविक रहस्यवादी जीवन एक ओर तो व्यक्ति को पूर्ण नैतिकता की शिक्षा देता है और दूसरी ओर समाज को पूर्ण सज्जीवन की। ज्ञानेश्वर तथा प्लेटिनस जैसे रहस्यवादियों ने रहस्य वादी जीवन में नैतिक गुणों की पूर्णता पर बल दिया है। समाज के लिए रहस्यवादी की सेवायें सुलभ होनी चाहिए, तभी वह वास्तविक रहस्यवादी है।

(5) प्रातिभ दृष्टि—रहस्यवादी द्वारा स्वयं भोगे हुए अनुभव की प्रामाणिकता ही रहस्यवाद का परम लक्षण है। यदि वह अपने आप में सत्य है, यदि उसका सम्पूर्ण जीवन पूर्ण सत्य का एक मूर्तरूप है, यदि वह अच्छाई और गुणों के मार्ग से एक इंच भी इधर-उधर नहीं हटता है, यदि उसका सम्पूर्ण जीवन ईश्वर के ध्यान और मानवता की सेवा में समर्पित है, यदि इनमें से किसी एक लक्ष्य के आत्मसाक्षात्कार की ओर रहस्यवादी अग्रसर होता है, तो वह वस्तुतः रहस्यवादी है। किसी रहस्यवादी के आध्यात्मिक साक्षात्कार का यही व्यक्तिगत पहलू है जो इसे एक विचित्र प्रभामंडल एवं श्रेष्ठता से युक्त कर देता है। सार्वभौमिकता, बौद्धिकता, भावुकता और नैतिक उत्साह इस महानतम लक्षण के सहायक हैं। ईश्वर का प्रत्यक्ष, अंतरंग और प्रातिभ बोध ही रहस्यवादी अनुभव का श्रेष्ठतम लक्षण है।[111]

अनिवर्चनीयता रहस्यानुभूति की सर्वप्रथम विशेषता है जो उसमें अनुस्यूत रहस्य शब्द की सार्थकता को प्रमाणित करता है। जो परमात्मसत्ता अनंत है, अकथ्य है, रहस्यमय है, उसकी अनुभूति भी निश्चय ही रहस्यमय होगी और जो रहस्यमय है, उसे स्वरूप प्रदान नहीं किया जा सकता। रहस्यानुभूति स्वभावतः ऐसी होती है जिसकी कोई विधिवत अवधारणा नहीं बनायी जा सकती। इसी कारण रहस्यानुभूति के लिए किसी अवधारणा (कांसेप्ट) का स्पष्ट बिंब नहीं बन पाता। इसका मूल कारण यह है कि उक्त अनुभूति का संबंध विश्वात्मक सत्ता की अपूर्व एकता से संबंधित है जो तत्वतः निर्विशेष अथवा अनिर्दिष्ट है। इसीलिए इसमें किसी प्रकार के पार्थक्य की कोई संभावना नहीं रहती। वस्तुतः किसी बहुत्व वा द्वित्व के अस्तित्व के कारण ही किसी अवधारणा (कांसेप्ट) का निर्माण हो सकता है। बहुत्व की स्थिति में ही एक समान विषयों के वर्ग बनाए जा सकते हैं और उन्हें एक दूसरे वर्गों से विशिष्ट भी किया जा सकता है। ऐसी ही स्थिति में किसी अवधारणा (कांसेप्ट) का निर्माण हो सकता है और उसे किसी शब्द द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। पृथक-पृथक सत्ताओं के बहुत्व का अभाव रहने के कारणं ही उक्त दशा को एकता (यूनिटी) का नाम दिया जाता है तथा उसके अंतर्गत एक पृथक सत्ता के दूसरे से भिन्न न होने के कारण उसे अनिर्दिष्ट अथवा निर्विशेष कहा जाता है। रहस्यानुभूति की अनिर्वचनीयता का यही कारण है।[112]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि रहस्यवाद की रहस्यानुभूति रहस्यमय होती है अर्थात् अस्पष्ट होती है, अकथनीय होती है। उक्त अनुभूति को हम वाणी द्वारा सान्त नहीं कर सकते अर्थात् स्वरूप नहीं प्रदान कर सकते। वस्तुतः रहस्यानुभूति मात्र अनुभवगम्य होती है। वह गूँगे के गुण के सदृश होती है। जैसे गूँगा व्यक्ति गुड़ खाकर मन ही मन उसके स्वाद का आनन्द लेता है, उसी प्रकार रहस्यवादी भी रहस्यानुभूति में आकण्ठ मग्न होकर अनंत आनन्द का आस्वादन करता है। अतः उक्त रहस्यानुभूति को सच्चिदानन्दस्वरूप कहा जा सकता है।

रहस्यवाद का साहित्यिक एवं मानवीय मूल्यांकन

हमने देखा कि विश्वात्मक परमात्मसत्ता का साक्षात्कार कर लेना ही रहस्यवाद का लक्ष्य है। उपनिषदों ने इसे अवाङ् मनोगोचर कहा है और अंततः नेति-नेति के माध्यम से ही उसके निवर्चन का प्रयास किया है। प्रश्न यह है कि क्या रहस्यवाद का साध्य ही साहित्य का भी साध्य है? क्या रहस्यवाद ही साहित्य की मुख्यधारा है? इस संबंध में कुछ विद्वानों के विचार द्रष्टव्य हैं। कविवर जयशंकर प्रसाद ने लिखा है—"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्य धारा रहस्यवाद है।.....साहित्य में विश्व सुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप संस्कृत वाङ्मय में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। यह प्रकृति अथवा शक्ति का रहस्यवाद सौन्दर्य लहरी के 'शरीरं त्वं शम्भो' का अनुकरण मात्र है। वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है, वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदम में समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बनकर इसमें सम्मिलित है। वर्तमान रहस्यवाद की धारा भारत की निजी संपत्ति है, इसमें संदेह नहीं।"[113] उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रसाद जी के अनुसार आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति ही काव्य है और उक्त मूल अनुभूति ही रहस्यवाद है। यही काव्य की मुख्य धारा है अर्थात् रहस्यवाद साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल रहस्यवाद को साहित्य की मुख्य धारा नहीं मानते। उनके अनुसार रहस्यवाद काव्य का सामान्य स्वरूप नहीं है। कविता की एक शाखा के रूप में रहस्यवाद को वे स्वीकार करते हैं।[114] आचार्य शुक्ल ने आगे लिखा है—"कविता का संबंध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है, अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है, काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है काव्य इसी अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।" उन्होंने काव्य के अन्तर्गत स्वाभाविक एवं सच्ची रहस्य भावना को स्वीकार किया, उक्त रहस्य भावना वाद से युक्त नहीं होनी चाहिए—"इस प्रकार की स्वाभाविक और सच्ची रहस्य भावना का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

माधुर्य प्रत्येक सहृदय स्वीकार करेगा।....स्वाभाविक रहस्य भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमें सन्देह नहीं। रसभूमि में इसका एक विशेष स्थान हम स्वीकार करते हैं। उसे हम अनेक मधुर और रमणीय मनोवृत्तियों में से एक मनोवृत्ति या अंतर्दशा, (मूड) मानते हैं जिसका अनुभव ऊँचे कवि और अनुभूतियों के बीच कभी-कभी प्रकरण प्राप्त होने पर, किया करते हैं। पर किसी वाद के साथ संबंद्ध करके उसे हम काव्य का एक सिद्धान्त मार्ग (क्रीड) स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।''[115] प्रसाद जी और आचार्य शुक्ल की रहस्यवाद संबंधी परिभाषाओं में अन्तर का मूल कारण काव्य के व्यापक प्रसार से संबंधित है। प्रसाद जी काव्य का प्रसार व्यक्त-अव्यक्त दोनों प्रकार की सत्ताओं तक मानते हैं और साथ ही भारतीय अध्यात्म के साथ संयुक्त कर उसका विचार करते हैं, जबकि आचार्य शुक्ल उसका प्रसार केवल व्यक्त सत्ता तक मानते हैं और मानसजगत् से संबंद्ध कर उसका विचार करते हैं। इसीलिए रहस्यवाद संबंधी इन दोनों की परिभाषाओं में अंतर है। आचार्य शुक्ल ने यह स्पष्ट रूप से यद्यपि नहीं बताया कि उनका वाद का तात्पर्य क्या है तथा वे किस प्रकार के (सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक या साधनात्मक) वाद से काव्य अथवा रहस्य भावना को मुक्त रखना चाहते हैं । किसी भी शब्द के साथ वाद शब्द मात्र के लग जाने से आचार्य शुक्ल चौंक पड़ते हैं। काव्य के क्षेत्र में अथवा रहस्य-भावना के क्षेत्र में यदि कोई दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक वाद परोक्ष रूप में क्रियाशील है और मूल आत्मा के सौन्दर्य की वृद्धि करता है तो उससे चौंकने की कोई आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त प्रकरण के क्रम में कुछ लोग यह मानते हैं कि रहस्यदर्शी और कवि पर्याय नहीं हैं। काव्य का अधिकांश भाग ऐसा होता है जहाँ कोई रहस्यमयता नहीं होती। कवि असामान्यदर्शी अवश्य हो सकता है, पर सर्वथा रहस्यदर्शी नहीं। यहाँ असामान्य का अर्थ मात्र काव्योचित सौन्दर्य से है, अबुद्धि-बोध्य रहस्य से नहीं। वस्तुतः काव्य में सामान्य से भिन्न कुछ विशेष अवश्य होता है, इसीलिए सहृदय पाठक संसार के सामान्य रूपों से हटकर काव्य के असामान्य रूपों की ओर आकृष्ट होता है। अतः असामान्यदर्शी कवि रहस्यदर्शी हो सकता है। असामान्यदर्शी कवि एवं रहस्यदर्शी में समता की एक आधार भूमि यह भी है कि दोनों अनुभूति जगत् के प्राणी हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि कभी रहस्यदर्शी कवित्व की भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है, तो कभी कवि रहस्यदर्शी की भूमिका पर। जब कवि रहस्यदर्शी की भूमिका पर आरूढ़ होता है तो प्रतिभा शक्ति (इंट्विटिव पावर) की सक्रियता ही इस आरोहण की आन्तरान्तिक प्रक्रिया है। जब यह शक्ति गुप्त रूप से सहसा उच्छलित होती है, तब कवि अतिमानस की विभूति का साक्षात्कार करता है। इसे ही वह कभी-कभी अपने शब्दों में व्यक्त करता है। यही कवि का रहस्यदर्शी रूप है।[116]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पाश्चात्य काव्यधारा में भारतीय काव्यधारा की अपेक्षा, कविता और रहस्य का गठबंधन अधिक हुआ है। पश्चिमी काव्यधारा में कवि एवं रहस्यदर्शी को एक करने का प्रयत्न अधिक किया गया है। प्रतीकवादी चिन्तकों में से ब्लेक ने कवि एवं रहस्यदर्शी में कोई अंतर नहीं माना है। कालरिज की कल्पना के अनुसार कवि अंतर्दृष्टि संपन्न होकर एक दिव्यलोक में विचरण करता है। "यूरोपियन रहस्यवाद अपने पुनरूत्थान में मानवतावादी आदर्शों से अनुप्राणित होकर प्रेम, करुणा, समत्व आदि सात्विक वृत्तियों द्वारा पाशविक वृत्तियों के शमन का संदेश सुनाता है। और इसी रास्ते अव्यक्त का स्पर्श पाने का प्रयासी है।.....भारतीय आचार्य ऋषि प्रतिभा और कवि-प्रतिभा को सर्वथा पृथक रखकर रहस्यानुभूति को साधना-जन्य अनुभूति ही मानते हैं और साधकों के उद्‌गारों तक ही उसकी काव्यात्मक या अकाव्यात्मक परिणति मानी है। पर पश्चिमी विचारकों ने कवि और रहस्यदर्शी को समान भूमिका पर ला खड़ा किया है और अव्यक्त को साधना ही नहीं, भावना या कल्पनागम्य भी कहा है। जहाँ तक मेरी आस्था और मान्यता का संबंध है, मैं भी उन भारतीय चिन्तकों के ही पक्ष का हूँ जो अव्यक्त का साक्षात्कार साधनागम्य मानते हैं। अतः मैं रहस्यवादिता का संबंध भी रहस्यदर्शी से ही मानता हूँ। यह बात अलग है कि रहस्यदर्शिता और कवित्व की कभी एक आधारगत सह स्थिति भी हो सकती है।"[117]

शुद्ध काव्य के अन्तर्गत कवि और वर्ण्य-विषय की सत्ता अलग-अलग रहती है। कवि उस पृथक वर्ण्य विषय से संबंधित अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है। यहाँ कवि एवं वर्ण्य विषय अभिन्न नहीं होते। दूसरी ओर रहस्यवादी अनुभूति की परवर्ती छाया का वर्णन करता है। रहस्यवादी के सामने विषय किसी स्थूल रूप में प्रस्तुत नहीं होता है। विषय की केवल अत्यधिक उभरी रेखाएँ ही रहस्यवादी के सामने अवस्थित रहती हैं। उन उभरी रेखाओं के आधार पर ही रहस्यवादी समग्र दृश्य, समग्र अनुभूति को प्रस्तुत करता है। इसीलिए उसे संकेतों की जरूरत पड़ती है। ये संकेत ही प्रतीक कहलाते हैं। वस्तुतः रहस्यवाद हृदय का धर्म है। "काव्य हृदयों का संवेदनात्मक व्यापार है। रहस्यवादी काव्य में इस हृदय के धर्म को प्रतीक और पौराणिक शैली का मोहक आवरण दिया जाता है। धर्म का कोई भी रूप अपने स्थूल और अनगढ़ रूप में काव्य नहीं हो सकता। उसे काव्य का रूप धारण करने के लिए प्रतीक और पौराणिक शैली का मधुर आवरण धारण करना पड़ेगा।"[118] इसके साथ ही रहस्यात्मक अनुभूति की सभी अभिव्यक्तियाँ काव्य नहीं कहला सकती हैं, क्योंकि ऐसी अभिव्यक्तियों में कभी-कभी कोरे वर्णन मात्र उपलब्ध होते हैं, जिनका अधिकांश प्रायः ज्ञानपरक होता है। "काव्यात्मक या साहित्यिक रहस्याभिव्यक्ति हम केवल उन्हीं पंक्तियों में पा सकते हैं, जिनमें न केवल रहस्यानुभूति की गहराई आपसे आप व्यंजित हो रही हो, अपितु जिनकी कथन शैली द्वारा इतना और भी सूचित हो सके कि उनके द्वारा अनुभवकर्ता को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपने भाव संप्रेषण की प्रक्रिया में पूरी सफलता नहीं मिल रही है। उसका कारण केवल उसकी असमर्थता ही नहीं, अपितु उसकी वह संपृक्तता भी हो सकती है जिसकी दशा में वह अपने व्यक्तित्व को अनुभूत लक्ष्य के प्रति सर्वथा अर्पित करते हुए स्वयं उसमें लीन हो चुका है और उसकी विवशता, उस मधु में आचूड़ निमग्न मक्षिका की जैसी हो रही है जो लाख यत्न करने पर भी अपने पंख नहीं मार पाती और न इसी कारण कभी उड़ान ही भर पाती है। ऐसा अनुभवकर्ता अपनी अभिव्यक्ति में बार-बार प्रयास करता है, किंतु अपने गूढ़ भावों द्वारा प्रायः अभिभूत बने रहने के कारण, वह कभी पूर्ण सफल नहीं हो पाता।''[119]

हमने देखा है कि रहस्य की अनुभूति व्यक्तिगत होती है। रहस्यवादी अपनी साधना के क्रम में रहस्यानुभूति का अनुभव करता है। इससे उसका व्यक्तिगत जीवन उन्नतिशील होता है। ऐसी स्थिति में उसका जीवन समता, प्रेम सद्भाव, अक्रोध की प्रतिमूर्ति बन जाता है जिससे संपूर्ण मानवता का भी कल्याण हो सकता है। पं० परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि ''ऐसे रहस्यवादियों की अनुभूति कभी, वस्तुतः वर्गाश्रित नहीं हो पायी है और न उसके पृथक्-पृथक् वर्तमान होने के कारण हम उसे केवल व्यक्तिगत ही कह सकते हैं। हम उसे किसी ऐसी संकीर्ण परिधि के भीतर नहीं ला सकते और न इसी कारण, उसे किसी प्रकार सीमित ही मान ले सकते हैं। यदि ऐसी अनुभूति को सचमुच विश्वात्मक सत्ता से संबंद्ध कहा जा सकता है और यदि यह उसकी अपूर्व एकता को सचमुच अपने में समाहित करती है तो यह भी उसी प्रकार असीम, अनंत आदि जैसे विशेषणों के लिए सर्वथा उपर्युक्त समझी जा सकेगी और वैसी दशा में, हमें ऐसा तथ्य स्वीकार कर लेने में कभी हिचक भी नहीं हो सकती कि इसके द्वारा न केवल मानव समाज, अपितु विश्व तक का कल्याण भी संभव है।''[120] इस प्रकार रहस्यवाद की उपयोगिता संपूर्ण समाज के लिए स्पष्ट है। इससे व्यक्तिगत जीवन में सुधार तो होता ही है, साथ ही सामाजिक जीवन में भी प्रेम और समता की स्थापना होती है।

श्री अरविन्द के अनुसार ऐन्द्रिय एवं बौद्धिक आनन्द से भिन्न आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि ही काव्य का प्रयोजन है। ऐंद्रिय एवं बौद्धिक आनन्द प्रारंभिक अवस्था की उपलब्धि है, अंतिम उपलब्धि तो आध्यात्मिक आनन्द ही है। वस्तुतः सच्चिदानंद की प्राप्ति काव्य का मूल प्रयोजन है, यह सच्चिदानंद ही आध्यात्मिक आनंद है। श्री अरविन्द के मतानुसार मानव जीवन का चरम लक्ष्य है भागवत् सौन्दर्य एवं आनन्द को जगत् एवं जीवन में उतारना। इस लक्ष्य की उपलब्धि में काव्य एक सहायक साधन है। अतः यह कहा जा सकता है कि अपने अंतिम रूप में काव्यानन्द एवं ब्रह्मानन्द एक है।[121]

रहस्यवाद और साहित्य के संबंध को लेकर विवाद रहा है। भारतीय दृष्टि से काव्य का कार्य रसास्वादन कराना है और भारतीय काव्यशास्त्रियों ने रसानुभूति की स्थिति को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

एक अनिवर्चनीय सात्विक स्थिति माना है और कुछ ने तो उसे "ब्रह्मानन्द सहोदर"[122] तक कह दिया है। दूसरे यह स्थिति तभी संभव मानी गयी है जब पाठक अथवा सहृदय की कवि अथवा कृति से अद्वैतता स्थापित हो जाती है। रहस्यदर्शी की रहस्यानुभूति की स्थिति की इससे पर्याप्त समानता है। रहस्यदर्शी में भी सहृदयता अनिवार्य तत्व है। वह भी परमतत्व से अद्वैत स्थिति को प्राप्त करता है और इस मिलन के आनन्द में लीन होता है। यह रहस्यानुभूति की स्थिति भी सात्विक है । इस प्रकार काव्य और रहस्यवाद दोनों के कार्य में पर्याप्त साम्य है और यदि काव्य एवं रहस्यवाद में समन्वय हो तो उसका आस्वाद लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार का आनन्द एक साथ देता है। सहृदय की कोटि पर यह निर्भर करता है। यदि भक्त अथवा रहस्यदर्शी काव्यास्वाद के योग्य सहृदय भी है तो निश्चय ही उसे दोनों प्रकार के आनन्द की अनुभूति मनः स्थिति के अनुसार होगी और यदि वह केवल सहृदय है तो उसे लौकिक काव्य का आनन्द प्राप्त होगा। इसीलिए रहस्यवादी काव्य (यथा जयदेव रचित गीत गोविन्द) का आनन्द महाप्रभु चैतन्य और लौकिक जन समान रूप से ले पाते हैं। सांकेतिकता और प्रतीकात्मकता का रहस्यवादी काव्य में समायोजन इसी दृष्टि से उपयोगी होता है।

काव्य और रहस्यवाद के समान कार्य एवं लक्ष्य पर जो संक्षिप्त विचार किया गया है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काव्य जिस प्रकार सत्योद्रेक कर व्यक्ति के चित्त का संस्कार करता है और मानसिक दृष्ट्या स्वस्थ नागरिक की संरचना में योग देता है, उसी प्रकार रहस्यवाद भी। काव्य व्यक्ति से समाज की ओर अग्रसर होता है, उसी प्रकार रहस्यवाद अथवा रहस्यवादी काव्य भी। एक दृष्टि से रहस्यवाद अथवा रहस्यवादी काव्य लौकिक काव्य अथवा शुद्ध काव्य से अधिक मानवीय एवं लोक कल्याणकर है। रहस्यदर्शी के जीवन और काव्य दोनों में नैतिक चेतना का उत्कर्ष अनिवार्य है तथा रहस्यदर्शी अपने जीवन की नैतिक चेतना का वैयक्तिक एवं सामाजिक प्रसार अपने काव्य के माध्यम से प्रत्येक स्तर पर करता है, जबकि शुद्ध काव्य अथवा लौकिक काव्य के लिए यह आवश्यक नहीं है। इसीलिए रहस्यवाद अथवा रहस्यवादी काव्य मानव कल्याण में अधिक अग्रसर है और इसीलिए श्रेष्ठतर है। सात्विक एवं मानवीय समाज की रचना में लौकिक काव्य उतना योग नहीं दे सकता, जितना रहस्यवादी काव्य। रहस्यवादी काव्य को पलायनवादी कहकर उसे सामाजिक दृष्टि से हेय ठहराने का उत्तर यह है कि रहस्यवाद के उदय, विकास और प्रसार की भूमि मानव जीवन ही है। कल्पनालोक में जीवित रहनेवाला रहस्यवाद मिथ्या रहस्यवाद है, जिसकी व्यक्ति और समाज दोनों की दृष्टि से व्यर्थता स्वयंसिद्ध है। असन्तुष्ट रहकर भौतिक जीवन में 'अहमहमिकया' की गति से अग्रसर होने वाले प्रतिक्षण धावमान व्यक्ति अनेक आधि-व्याधि से ग्रस्त होकर नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं और अपने वातावरण को दूषित करते हैं, जिसका समाधान रहस्यवाद प्रस्तुत करता है, किन्तु मानव जीवन को छोड़कर कभी नहीं।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहस्यवादी अभिव्यक्ति

रहस्यानुभूति के स्वरूप की चर्चा करते समय हमने देखा है कि वह अवाङ्मनोगोचर है, इन्द्रियातीत है अर्थात् वह अनुभवगम्य है। जिस प्रकार विश्वात्मक परमात्म सत्ता अनन्त, अभेद, असीम है, उसी प्रकार उसकी अनुभूति भी असीम है। उसे हम ससीम साधनों द्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकते। वह तो गूंगे के गुड़ की तरह मात्र आस्वाद्य है। फिर भी अनन्तकाल से मानव जाति उसे अभिव्यक्त करने का प्रयास करती रही है। अपने रहस्यमय भावों को व्यक्त करने के लिए मनुष्य ने विविध पद्धतियों का सहारा लिया है। विविध कलाओं को साधन के रूप में ग्रहण किया जाता रहा है। किसी सौन्दर्य विन्दु के साक्षात्कार में सक्रिय पूर्ण व्यक्तित्व की दृष्टि से एक सफल कलाकार किसी न किसी अंश में रहस्यवादी होता है। इसी प्रकार रहस्यवाद के पंडितों के अनुसार रहस्यानुभूति की सफल अभिव्यक्ति कला के स्तर पर ही संभव हो पाती है।[123] हमारे आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति संगीत-कला, चित्रकला, मूर्तिकला, एवं स्थापत्य कला के माध्यम से भी होती है। वस्तुतः ये सभी कलाएँ मानव-जीवन के आभ्यंतरिक रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए काम में लायी जा सकती है।[124]

चूँकि परमात्मा का स्वरूप विलक्षण और वैविध्यपूर्ण होता है, तदनुसार उसकी अनुभूति भी विलक्षण होती है। ऐसी स्थिति में स्पष्ट रूप से उसकी अभिव्यक्ति में कठिनाई उपस्थित होती है। अतः रहस्यवादी अभिव्यक्ति के लिए विविध वर्णन शैलियों का सहारा लिया जाता है। पिछले पृष्ठों में हमने देखा है कि प्रतीक एवं पौराणिक शैली के माध्यम से काव्य में रहस्यवाद की अभिव्यक्ति संभव हो पाती है। हमारे भावों को व्यक्त करने में जब हमारी भाषा असमर्थ होने लगती है, तब हम प्रतीकों की सहायता लेते हैं। प्रतीक का सामान्य अर्थ है अंग, अवयव, भाग, आकृति, किसी वस्तु के अनुरूप बनायी हुई वैसी ही दूसरी वस्तु, प्रतिरूप, प्रतिमा आदि। प्रतीक मानस प्रत्यक्ष एवं कल्पना के क्षेत्र में आने वाले विचारों, भावों, और अनुभूतियों के गोचर चिह्न अथवा संकेत हैं।[125] प्रतीक अपने लक्ष्य तक पहुँचने की एक ऐसी प्रक्रिया है, जो लक्ष्य तक तो कभी नहीं पहुँचती, लेकिन अधिकाधिक रूप में केवल उसके निकट पहुँचा सकती है। प्रतीकों का प्रयोजन दो प्रकार का है—(1) पहला प्रयोजन है भौतिक नेत्रों, कानों या मन को जो दृश्य या शब्द या भाव अभिव्यक्ति कर प्रेषित नहीं किये जा सकते, उनके सामने समान दृश्य या शब्द या भावों को प्रस्तुत करना अथवा प्रत्यक्ष करना। यह भी कहा जाता है कि अतंतः सभी भाषाएँ विशेषकर धार्मिक भाषाएँ, प्रतीकात्मक हो जाती हैं। (2) प्रतिमा (इमेज) या प्रतीक का दूसरा प्रयोजन है किसी श्रद्धेय वस्तु को भौतिक (मैटीरियल) और उपयुक्त रूप प्रदान करना जिससे अदृश्य एवं अरूप देवता की धारणा करने में असमर्थ, अज्ञान एवं अंधकार से आच्छन्न मन वालों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

की आवश्यकता पूरी हो सके। इससे व्यक्ति अंधकार सन्देह, अशांति एवं अविश्वास का शिकार नहीं हो पाता।[126] डब्ल्यू०आर० इंज के अनुसार प्रतीक (सिम्बल) प्राकृतिक पदार्थों के रूप में कतिपय नैतिक अथवा आध्यात्मिक सत्य का प्रतिरूप अथवा प्रतिनिधान है। व्यंजन, अनुभावन अथवा अन्तर्दृष्टि इसका उद्देश्य है, प्रतीक एक प्रकार की भाषा है। प्रतिमा या प्रतिबिम्ब (इमेज) प्राकृतिक संबंधों (नेचुरल रिलेशंस) से निर्मित होते हैं तथा अधिक सार्वभौम या आदर्श संबंधों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। प्रतीक किसी अवधारणा (कान्सेप्ट) का परोक्ष प्रस्तुतीकरण है, जो प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।[127] मिथ (अथवा पुराणकथा), जिसका उद्देश्य श्रेष्ठ एवं सर्वोच्च सत्यों का प्रत्यक्षीकरण है, उद्देश्यपूर्ति के लिए चित्र की सृष्टि करता है, तथा प्रकृति में उन्हें नहीं प्राप्त करता।[128]

प्रतीक योजना किसी जटिल एवं अमूर्त भावना का सरल एवं स्थूल स्वरूप में चित्रण की प्रक्रिया है। प्रतीक न तो चित्र है, न उसके किसी वस्तु विशेष का स्मरण दिलाने वाला संकेत मात्र। यह प्रतीकीकृत वस्तु विशेष का जीवित, जाग्रत एवं क्रियाशील प्रतिनिधि है, जिसके माध्यम से प्रयोक्ता सभी प्रकार के उपयुक्त भावों को व्यक्त करने में समर्थ होता है।[129] प्रतीक गोपन एवं प्रकाशन के दोनों कार्य एक साथ करते हैं। मौन एवं मुखर, गोचर एवं अगोचर, मूर्त्त एवं अमूर्त दोनों के मध्य में गतिशील होकर वे सूक्ष्म का अनुभव करा देने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार ''प्रतीकों में गोपन और प्रकाशन की क्षमता एक साथ रहती है—फलतः मौन और वाणी के सम्मिलित कार्य से दोहरे अर्थ की अभिव्यंजना संभव होती है। प्रतीक ही वे माध्यम हैं, जो स्वयं गोचर और मूर्त होते हुए अगोचर और अमूर्त तक अनुभव करा देने में समर्थ होते हैं।''[130]

मिस एवलिन अंडरहिल ने रहस्यवादियों की प्रकृति के साथ प्रतीकवाद को संबद्ध करते हुए उनकी प्रकृति के तीन भेदों का उल्लेख किया है। अर्थात् ये भिन्न-भिन्न वर्ग के रहस्यवादी अपनी प्रकृति के अनुसार विभिन्न वर्ग के प्रतीकों का चयन कर उनके माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करते हैं। प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के रूप में हैं—रहस्यात्मक संधान, आत्मा का विवाह और आध्यात्मिक रासायनिकता। ये रहस्यवादी अपनी प्रकृति के अनुसार इन वर्गों के प्रतीकों का चयन करते हैं।[131]

पीछे के पृष्ठों में हमने देखा है कि रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति संभव नहीं है। वह वाणी आदि साधनों द्वारा अभिव्यक्त नहीं हो सकती। रहस्यवादी अभिव्यक्ति की इसी कठिनाई के कारण विभिन्न वर्णन शैलियों का सहारा लिया जाता है। प्रतीक, उनमें से एक उपयुक्त माध्यम है, जिसके द्वारा रहस्यवादी अनुभूति को व्यक्त करने का प्रयास किया जाता है । यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि रहस्यवादी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों के चयन की बाध्यता क्यों है? वस्तुतः जब हमारी भाषा पंगु और अशक्त होने लगती है

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और हमारी अनुभूति अभिव्यक्त होने के लिए मचलने लगती है तो ऐसी स्थिति में प्रतीक योजना का सहारा लिया जाता है। अपनी अनुभूति की यथेष्ट अभिव्यक्ति के लिए उनसे साम्य रखने वाले जीवन के विभिन्न अनुभवों का संधान किया जाता है और जो साम्य उपयुक्त होता है उसके माध्यम से अपनी भावधारा को अभिव्यक्त कर दिया जाता है। प्रतीकवाद का स्वरूप लगभग इसी प्रकार निर्धारित किया जा सकता है। इसी प्रकार हम रहस्यवादी अनुभूति को व्यक्त कर पाते हैं।[132] साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि रहस्यवादी अनुभूति अपने आप में रहस्यमय होती है, फलतः उसका अनुभवकर्ता भी उसे गोपनीय अथवा रहस्यमय रखने का प्रयत्न करता है। इस क्रम में रहस्यवादी अपनी अनुभूति को गोपनीय रखने के लिए प्रतीकों का प्रयोग करता है। अतः इसीलिए रहस्यवादी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों के चयन की बाध्यता है।

रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति की कठिनाई को दूर करने के लिए कभी-कभी विभिन्न अलंकारों का भी प्रयोग किया जाता है। ऐसे अलंकारों में विभावना, विषम, अधिक, असंगति, असंभव, विरोधाभास, विचित्र, व्याधात आदि के नाम लिए जा सकते हैं।[133] समतामूलक अलंकारों से सम्पन्न शैली में रहस्यदर्शी का अभिप्राय ही महत्वपूर्ण होता है। वह कभी-कभी केवल प्रसिद्ध उपमानों का ही कथन करके अपना अभिप्राय व्यक्त करने का प्रयास करता है और कभी-कभी केवल प्रस्तुत का कथन करके भी अप्रस्तुत के प्रति अपने अभिप्राय व्यक्त करता है। कभी-कभी प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों को समस्त करके भी अपना कथ्य प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के समतामूलक अलंकारों का रहस्यमय प्रयोग करके भी रहस्यदर्शी कवि मुख्यतया रहस्यमय अभिप्राय को ही व्यक्त करता है।

रहस्यवादी काव्य में प्रयुक्त धार्मिक प्रतीकों में पारम्परिक प्रसंग गर्भत्व के साथ पौराणिक प्रसंग गर्भत्व भी कम महत्व नहीं रखता। रहस्यदर्शी कवि के जीवन प्रसंग और क्रम का इसमें पर्याप्त योग रहता है। इसीलिए अनेक विशिष्ट रहस्यवादी कवियों के प्रतीकों के अर्थगांभीर्य का रहस्य उनके जीवन से खुलता है। इतना ही नहीं, संप्रदाय, मत, पंथ आदि की परम्पराओं के विभिन्न क्रम भी इसमें योग देते हैं। विशिष्ट प्रकार की प्रतीक परम्परा के अधिकाधिक प्रयोग से रहस्यदर्शी कवि की प्रकृति और साधना क्रम का ज्ञान होता है। इस प्रकार औपम्यविधान, शैली, कवि जीवन सभी अर्थों के लिए परस्परावलंबी हैं।

निष्कर्ष

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि रहस्य भावना आदिमकालीन है, परन्तु 'रहस्यवाद' शब्द पर्याप्त परवर्ती है जिससे गुप्त विद्या अथवा गुह्यविद्या अथवा साधन पद्धति विशेष का बोध होता है। विकास होने पर चरमसत्ता के साथ मानव-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आत्मा के संभाव्य ऐक्य अथवा संबंध के साधन अथवा दर्शन के रूप में इसका विकास हुआ। रहस्यवाद शब्द पाश्चात्य 'मिस्टिसिज्म' का एक भारतीय रूपान्तर है जिसमें ईश्वर के साथ किसी न किसी प्रकार के हार्दिक संबंध की चर्चा होती है। गुह्य और रहस्य जैसे शब्द प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध हैं। उसके साथ 'वाद' जोड़कर किसी मत विशेष की ओर संकेत किया गया है। इस दृष्टि से गीता, उपनिषद् आदि प्रस्थानत्रयी के ग्रन्थ भारतीय रहस्यवाद के आधार ग्रंथ के रूप में स्वीकार कर लिए गये हैं। जादू टोना आदि को ही रहस्य विद्या के रूप स्वीकार करने वाले लोगों की दृष्टि गंभीर प्रतीत नहीं होती। रहस्यवाद एवं जादू विद्या में महान् अंतर है। इसी प्रकार रहस्यवाद विकृत मानसिक दशाओं की उपज भी नहीं है। धर्म भी अति विस्तृत अर्थ में रहस्यवाद से घनिष्ठ भावेन सम्बद्ध है। धर्म का देशकालातीत् स्वरूप रहस्यवाद के अत्यधिक निकट हैं। यद्यपि रहस्यवाद की अनेक परिभाषाएँ दी गयी हैं, किन्तु पूर्ण संतोषजनक एक भी नहीं है। इतना निश्चित है कि रहस्यवाद मानवात्मा का परमात्मा के प्रति ऐक्य विधायक चिंतनात्मक अथवा साधनात्मक तथा साथ ही आनन्दात्मक सद्प्रयास है। इस दृष्टि से यह देशकालातीत भी होता है। मानव की क्रियाशीलता के विविध पक्षों में विकसित होने वाली रहस्य चेतना को ध्यान में रखकर ही भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत भक्ति, ज्ञान, कर्म और योग का समाहार कर लिया गया है। वस्तुतः रहस्यवाद मानव के व्यक्तित्व का एक पक्षीय विकास नहीं हैं। ऐसे रहस्यवाद की अपनी अभिव्यक्ति पद्धति भी असामान्य होती है और यदि सार रूप में हम इसे कहना चाहें तो कह सकते हैं कि रहस्यवाद, सर्वव्यापक, सर्वातीत, सत्य-शिव-सुन्दर, सच्चिदानन्दरूप, पूर्ण एवं नित्य, विश्वात्मक परमात्मसत्ता के साथ होने वाले अनिर्वचनीय, अद्वयात्मक ऐक्य अथवा विशिष्ट पूर्ण जीवन के हेतु चरमसत्यान्वेषण के लिऐ किये गये अतीन्द्रिय एवं अद्वयात्मक प्रातिभ साक्षात्कार की स्वानुभूति से सम्पन्न मानव चेतना अथवा मनोवृत्ति का आन्तरिक, आचार प्रधान, अनुशासनसंपन्न उन्नायक, रचनात्मक हार्दिक, संवेगात्मक, विवेकपूर्ण, अबुद्धिबोध्य, शास्त्रनिरपेक्ष, तर्कमुक्त साधन एवं जीवन दर्शन है जिसकी अभिव्यक्ति सांकेतिक, प्रतीकात्मक एवं पौराणिक शैली के माध्यम से साहित्य में संभव हो पाती है।

रहस्यवाद के मूल तत्व विश्व के प्रायः सभी रहस्यवादों में सामान्य रूप से मिलते हैं। इसीलिए रहस्यवाद के मूल सिद्धान्त और अनुभूतियाँ सार्वजनीन, वैश्व और देशकालातीत हैं। व्यक्ति के विविध पक्षों को अथवा किसी एक प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर रहस्यवाद के भेद बताने के प्रयास किये गये हैं और उस आधार पर रहस्यदर्शी कवियों के वर्ग भी निश्चित करने के प्रयास हुए हैं। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि दार्शनिक तत्वविज्ञान के ब्रह्म जीव और जगत् जैसे तीन बिन्दुओं के आधार पर भेद-निरूपण को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अपेक्षाकृत दार्शनिक ही कहा जायेगा। किन्तु इसके भावनात्मक पक्ष को भी स्वीकार किया जा सकता है। भारतीय 'साधना' शब्द इतना व्यापक है कि उसके अन्तर्गत जागतिक, वैयक्तिक आदि सभी पक्ष समाहित हो जाते हैं। प्रयोजनीय रहस्यवाद के अन्तर्गत डॉ० दासगुप्त का विभाजन अधिक उपयोगी है।

मानव जीवन से उदित होने वाला रहस्यवाद वैयक्तिक ही नहीं, वैश्व होने के कारण सामाजिक भी है और व्यक्ति और समाज दोनों के योगक्षेम के लिए उपयोगी है, यद्यपि भौतिकवादी उपयोगितावाद की दृष्टि से रहस्यवाद का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता; रहस्यवाद काव्य की मुख्यधारा हो अथवा गौड़, किंतु वह विश्व के लिए कल्याणकर हैं। परमोच्च भावभूमि पर पहुँचा हुआ रहस्यदर्शी कवि भारतीय ऋषि है। जब कविता उससे संस्पृष्ट होती है तब वह काव्य मंत्र से कम नहीं होता। अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति और उसका प्रसार करने के साथ ही रहस्यवादी काव्य नैतिक चेतना का उत्कर्ष भी करता है और इसमें दृढ़ता एवं स्थिरता इसलिए होती है, क्योंकि यह जीवन से उद्भूत होता है। रहस्यवादी विलक्षण अनुभूति की अभिव्यक्ति भी असामान्य होती है और इस विलक्षणता का स्रोत उसके साध्य से प्रवाहित होता है। इसीलिए प्रतीकों या प्रतिमाओं या रूपकों अथवा पुराणकथाओं के माध्यम से अभिप्राय को व्यक्त करने का प्रयास रहस्यदर्शी कवि करता है और इस प्रकार की प्रक्रिया में गोपन एवं प्रकाशन की क्रिया एक साथ चलती रहती है। रहस्यदर्शी कवि अपनी अनुभूति के वैशिष्ट्य के कारण ही इस प्रकार की शैली चुनने के लिए बाध्य है।

सन्दर्भ-सूची

1. पं० परशुराम चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 3-4। डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 11-12, एफ०सी० हैपोल्ड, मिस्टिसिज्म, पृ०18
2. इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एंड एथिक्स, खंड- 9, पृ० 83
3. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 3। डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 9-10
4. डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 10-11। पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 3
5. रायबहादुर पंड्या बैजनाथ, भावनायोग, द्रष्टव्य-अनुवादक का निवेदन
6. आप्टे-संस्कृत-हिंदी-कोश, पृ० 850। पं० चतुर्वेदी० रहस्यवाद, पृ० 1-2। डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 17
7. श्रीमद्भगवद्गीता, 4।3
8. श्रीमद्भगवद्गीता, 18/64,68,63,67
9. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 3
10. डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 13-18, 23
11. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 4, 7
12. डॉ० भट्टाचार्य, एन इन्ट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट एसोटेरिज्म, इंट्रोडक्शन, पृ० 1

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

13. एवलिन अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 70
14. अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 70-71। पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 6-7
15. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 7-8
16. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 9-11
17. डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ० 553
18. डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 19-20
19. इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एंड एथिक्स, खण्ड 9, पृ० 83-84
20. उपरिवत्, पृ० 84
21. डॉ० उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ० 551-552
22. उपरिवत्, पृ० 552
23. उपरिवत्, पृ० 552
24. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 12-17
25. डब्ल्यू० आर० इंज, मिस्टिसिज्म इन रेलिजन, पृ० 25
26. उपरिवत्, पृ० 25
27. इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड 9, पृ० 113-114
28. डॉ० रानडे-पाथवे टू गाड इन हिंदी लिटरेचर, जनरल इंट्रो०, पृ० 2। डॉ० रानडे मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, प्रिफेस, पृ० 1
29. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 16-17
30. अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 93
31. इंज, मिस्टिसिज्म इन रेलिजन, पृ० 25
32. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 19
33. उपरिवत्, पृ० 19-20
34. डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० 8-9
35. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 22-23
36. डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, प्रीफेस, पृ० 9
37. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 23-24
38. डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० 17
39. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 25-26
40. इंज मिस्टिसिज्म इन रेलिजन, प्रिफेस, पृ० 8
41. इंज मिस्टिसिज्म इन रेलिजन, पृ० 28-29
42. डॉ० पाण्डेय, भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, पृ० 15
43. डॉ० वर्मा, कबीर का रहस्यवाद, पृ० 15
44. डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 28
45. डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 27-28
46. म०म० पं० चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ०195

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

47. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 29-30
48. अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 24
49. अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 70, 81-90
50. उपरिपत्, पृ० 92
51. अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 81
52. नाथ और संतसाहित्य, पृ० 560
53. डॉ० उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ० 560-561
54. डॉ० रानडे, पाथवे टू गाड इन हिन्दी लिट्रेचर, पृ० 7-8
55. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, प्रिफेस, पृ० 2-3
56. उपरिवत, पृ० 23, 181, 211, 259, 359
57. मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 178
58. उपरिवत्, पृ० 209-210
59. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट, पृ० 256-257
60. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 355
61. उपरिवत्, पृ० 422
62. हैपोल्ड, मिस्टिसिज्म, पृ० 40-41
63. हैपोल्ड, मिस्टिसिज्म, पृ० 43-45
64. अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 234
65. हैपोल्ड, मिस्टिसिज्म, पृ० 100-103, 197-209
66. उपरिवत्, पृ० 149-153
67. रूडाल्फ आटो, मिस्टिसिज्म : इस्ट एण्ड वेस्ट, इंट्रोडक्शन, पृ०15-17
68. रूडाल्फ आटो, मिस्टिसिज्म : इस्ट एण्ड वेस्ट, पृ० 29-31
69. उपरिवत्, पृ० 74-75
70. आटो, मिस्टिसिज्म : इस्ट एण्ड वेस्ट, पृ० 143-144
71. उपरिवत्, पृ० 169-180
72. डॉ० त्रिगुणायत, कबीर और जायसी का रहस्यवाद तथा तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 72, 73, 135-137, 178
73. डॉ० त्रिगुणायत, कबीर और जायसी का रहस्यवाद तथा तुलनात्मक अध्ययन, पृ० 218, 219, 275, 287, 303, 325
74. रायबहादुर पंड्या बैजनाथ (अनु०)—भावनापयोग, पृ० 4-5
75. उपरिवत्, पृ० 6-8
76. उपरिवत्, पृ० 11-17
77. रायबहादुर पंड्या बैजनाथ (अनु०) भावनायोग, पृ० 27, 38-39
78. उपरिवत्, पृ० 40-43
79. उपरिवत्, पृ० 51-53

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

80. उपरिवत्, पृ० 62-63
81. डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 26
82. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 40
83. डॉ० पाण्डेय, भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, निवेदन, पृ० 12-13
84. दि न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, खण्ड 12, पृ० 786
85. बृहदारण्यकोपनिषद, 1।3।28
86. केनोपनिषद्, 1/3, तैत्तिरीयो 2/4/1
87. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/22
88. दि न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, खण्ड 12, पृ० 788
89. हैपोल्ड, मिस्टिसिज्म, पृ० 56
90. उपरिवत्, पृ० 56-57
91. उपरिवत्, पृ० 58
92. हैपोल्ड, मिस्टिसिज्म, पृ० 70, 94-95
93. अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 168-170
94. संपा० धीरेन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्यकोश, प्रथम भाग, पृ० 938-939
95. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 43
96. भावनायोग, पृ० 72
97. अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 75-76
98. श्रीमद्भगवद्गीता, 2/48, 55, 56
99. उपरिवत्, 5/20, 6/28
100. नाथ और संत साहित्य, पृ० 553
101. स्पर्जन, मिस्टिसिज्मं इन इंगलिश लिटरेचर, पृ० 1-3
102. श्रीमद्भगवद्गीता, 18/20
103. स्पर्जन, मिस्टिसिज्म इन इंग्लिश लिटरेचर, पृ० 8,9,33,44
104. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट, प्रिफेस, पृ० 2-3, 9-11
105. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 96-100
106. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/4/6 (शांकरभाष्य सहित)
107. उपरिवत्, 4/3/21
108. डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 29
109. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, प्रिफेस, पृ० 1-2
110. उपरिवत्, पृ० 13
111. रानाडे- मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, प्रिफेस, पृ० 24-30
112. पंडित चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 66
113. जयशंकर प्रसाद, अभिषेक, पृ० 179, 195
114. आचार्य शुक्ल, चिन्तामणि, भाग-2, पृ० 42

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

115. आचार्य शुक्ल, चिन्तामणि, (भाग-2), पृ० 49, 77-78,118-119
116. डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 23-25
117. उपरिवत्, पृ० 89-90
118. डॉ० उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ० 582-583
119. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 81
120. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 119
121. आधुनिक हिन्दी काव्य पर अरविंद दर्शन का प्रभाव, पृ० 167
122. पं० बलदेव उपाध्याय, संस्कृत आलोचना, पृ० 256-257
123. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 68
124. उपरिवत्, पृ० 71-74
125. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स : खण्ड- 12, पृ० 139
126. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स : खण्ड- 12, पृ० 141-142
127. इंज, मिस्टिसिज्म इन रेलिजन, पृ० 73
128. उपरिवत्, पृ० 74
129. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 82-83
130. डॉ० त्रिपाठी, रहस्यवाद, पृ० 150
131. अंडरहिल, मिस्टिसिज्म, पृ० 128-129
132. पं० चतुर्वेदी, रहस्यवाद, पृ० 82-83
133. उपरिवत्, पृ० 87-88

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

खण्ड (ख)
भारतीय रहस्यवाद का स्वरूप और उसके भेद
(विकासात्मक और तात्त्विक अध्ययन)

भारतीय रहस्यवाद का परिचय

भारतीय धर्म-दर्शन की परम्परा निगमागममूलक है। निगम के अन्तर्गत वेदों की गणना की जाती है तथा आगम को तंत्र के नाम से भी जाना जाता है। भारतीय धर्म, दर्शन एवं सभ्यता निगम पर आश्रित है तथा साथ ही आगम पर भी अवलंबित है। निगम (वेद) से कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप का बोध होता है तथा आगम इनके साधनभूत उपायों की शिक्षा देता है। जिस शास्त्र द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं वह आगम कहलाता है। तंत्र अपने व्यापक अर्थ में शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान, विज्ञान विषयक ग्रंथ आदि का बोध है। इस व्यापक अर्थ में शास्त्र में तंत्र शब्द बहुशः प्रयुक्त होता है। यों आगम एवं निगम का परस्पर सम्बन्ध निर्धारित करना एक झमेले का विषय है, किंतु सामान्यतः यह कहा जाता है कि अधिकांश आगमों का मूलाधार निगम ही है। तन्त्र दो प्रकार के बताये गये हैं—वेदानुकुल और वेदबाह्य। वेद ही कुछ तंत्रों के सिद्धान्त तथा आचार के मूल स्रोत हैं। पांचरात्र तथा शैवागम के कुछ सिद्धान्त वेदमूलक हैं, लेकिन प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेदबाह्य कहा गया है। शाक्तागम की वेदानुकूलता के सम्बन्ध में लोग सन्देह करते हैं जिसका कारण है शाक्तों के सप्तविध आचारों में से मात्र एक ही आचार-वामाचार की घृणित पूजापद्धति। लेकिन शाक्तों के आचार एवं सिद्धान्त के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उनमें भी महती संख्या वेदानुकूल तन्त्रों की है।[1] किन्तु अपने विवेच्यकाल तक की वेदबाह्य और वेदानुकूल संप्रदायों की विविध प्रवृत्तियों का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट होता है कि विविध सम्प्रदायों ने एक दूसरे को हीन और निन्दनीय ठहराने के लिए भी उन्हें वेदबाह्य घोषित किया है। इसी प्रकार ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान एवं प्रतिष्ठाकाल में विभिन्न वेदबाह्य संप्रदायों ने अपनी वेदानुकूलता सिद्ध करने के लिए भी अनेक प्रमाण जुटाये हैं। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी ''मध्यकालीन धर्मसाधना'' नाम की पुस्तक में इस पर विस्तार से विचार किया है।

भारतीय दर्शन आस्तिक तथा नास्तिक दो विभागों में विभक्त किये जाते हैं। सामान्यतः जो ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है वह आस्तिक है तथा जो ईश्वर की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्ता का निषेध करता है वह नास्तिक है। इस दृष्टि से जैन, बौद्ध, चार्वाक् दर्शन नास्तिक कहे जाते हैं। पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' में लिखा है—"अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः" अर्थात् परलोक की सत्ता में विश्वासशील पुरुष आस्तिक है। इस दृष्टि से जैन एवं बौद्ध दर्शन भी आस्तिक माने जाने लगेंगे, क्योंकि परलोक की सत्ता में इनका पक्का विश्वास है। पाणिनि की व्याख्या के अनुसार चार्वाक् दर्शन नास्तिक माना जायेगा। मनु के अनुसार वेद-निन्दक नास्तिक है—"नास्तिकों वेद-निन्दकः"। इस प्रकार आस्तिक वह है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करे तथा नास्तिक वह जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास न कर वेद की निन्दा करे। वेद की प्रामाणिकता को स्वीकार करने के कारण न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त प्रधानतया आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार करने के कारण चार्वाक्, जैन एवं बौद्ध नास्तिक कहे जाते हैं। चार्वाक् दर्शन सब दृष्टि से ईश्वर, वेद, एवं परलोक न मानने के कारण ही पक्का नास्तिक है।[2]

भारतीय संस्कृति वेदमूलक है। यों बाद में भारतभूमि पर ही ऐसे धर्म-सम्प्रदाय विकसित हुए जिन्होंने वेदों को अपने आचार-विचारों का आधार नहीं माना। जैसे जैन और बौद्ध धर्म वेद को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते, जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है, फिर भी भारतभूमि पर उत्पन्न एवं विकसित होने के कारण ये भारतीय आचार-विचार से नितान्त भिन्न नहीं है। ये वेद विरुद्ध भले ही हों, परन्तु भारतीय संस्कृति एवं भारतीयता से अभिन्न हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि वैदिक आचार-विचारों का प्रतिबिम्ब इनमें भी स्पष्टतः दिखायी देता है। अतः भारतीयों की संस्कृति मूलतः एक ही है और वह है वेदमूलक संस्कृति। यह बात दूसरी है कि वर्तमान भारत में मुस्लिम और ईसाई बन्धु भी निवास करते हैं जिनकी संस्कृति वैदिक संस्कृति से भिन्न है। भारत में उनका निवास भले ही चिरकालिक है और ऐसी स्थिति में भारतीय संस्कृति के नाम से नहीं जाना जा सकता। वे तो मूलतः अपने प्राचीन स्थान अदन आदि की संस्कृति के अनुयायी हैं। इस प्रकार मुस्लिम और ईसाई-धर्म भारतीय धर्म अथवा संस्कृति के अन्तर्गत ग्राह्य नहीं हैं।[3]

भारतीय संस्कृति का मूलभूत स्वरूप अध्यात्म प्रवीणता है। इसका तात्पर्य यह है कि पंचभूतों से निर्मित शरीर के अतिरिक्त एक आत्मा की सत्ता मानी गयी है, जो अजर-अमर है, शाश्वत है तथा भौतिक शरीर बदलता रहता है। आत्मा का स्वरूप सर्वदा एक बना रहता है। वर्तमान शरीर के नष्ट होने पर आत्मा दूसरे शरीर को ग्रहण करती है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति पुनर्जन्मवाद को प्रश्रय देती है, जिससे भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत आने वाले बौद्ध, जैन धर्म आदि सभी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार के अध्यात्म पर भारतीय आचार-विचार अवलंबित हैं।[4]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने अपने ग्रंथ 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में याज्ञिक रहस्यवाद की विवेचना की है जिसे भारतीय रहस्यवाद का मूल उत्स माना जा सकता है। इसके साथ ही उन्होंने रहस्यवाद के चार प्रमुख प्रकारों-औपनिषद रहस्यवाद, योगपरक रहस्यवाद, बौद्ध रहस्यवाद एवं भक्तिपरक रहस्यवाद की विधिवत् चर्चा की है। उनकी दृष्टि में हिन्दू रहस्यवाद (हिन्दू मिस्टिसिज्म) और भारतीय रहस्यवाद (इंडियन मिस्टिसिज्म) शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं—'हिन्दू स्टैंडिंग फार इंडियन'। वस्तुतः 'इंडियन मिस्टिसिज्म' शब्द से किसी प्रकार का भ्रम न हो, इसीलिए डॉ० दासगुप्त ने 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार हिन्दू रहस्यवाद भारतीय रहस्यवाद का ही बोधक है।[5]

डॉ० आर० डी० रानडे ने 'मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र' नामक अपने ग्रन्थ में 'इण्डियन मिस्टिसिज्म' के एक भाग के रूप में मराठी संतों के रहस्यवाद की चर्चा की है। डॉ० रानडे ने इंडियन मिस्टिसिज्म का विकास दिखाते हुए औपनिषद रहस्यवाद, गीता का रहस्यवाद, वैष्णव एवं शैव संप्रदायों में रहस्यवाद, भागवत में रहस्यवाद, शांडिल्य भक्ति सूत्र एवं नारद भक्ति सूत्र, मध्यकालीन दार्शनिक सम्प्रदायों में रहस्यवाद की चर्चा की है। बंगाली, गुजराती, तमिल, कन्नड़ एवं मराठा रहस्यवाद की भी चर्चा की गयी है। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि उपर्युक्त बातें भारतीय रहस्यवाद के अंगभूत विषय हैं।

इस प्रकार ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि 'हिन्दू रहस्यवाद' और 'भारतीय रहस्यवाद' एक दूसरे के पर्याय हैं। भारतीय अथवा हिंदू धर्म निगम (वेद) और आगम (तंत्र) का समन्वित रूप है। भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत वैदिक एवं तांत्रिक रहस्यवाद के तत्वों का विवेचन ग्राह्य है। वेद, उपनिषद्, गीता, श्रीमद्भागवत, पुराणों एवं भक्ति संप्रदायों में रहस्यवाद तथा तंत्रों में रहस्यवाद है और आगमिक परम्परा में विकसित बौद्ध जैन रहस्यवाद का विवेचन भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत किया जाता है। बौद्ध और जैन धर्म का जन्म भारतभूमि में हुआ है तथा दोनों यहीं पल्लवित एवं पुष्पित भी हुए हैं। अवैदिक होते हुए भी वे हिंदू धर्म अथवा भारतीय रहस्यवाद के अंग के रूप में स्वीकार किये जायेंगे। भारत में ईसाई और इस्लाम मतावलम्बियों का निवास चिरकालिक है तथा उनकी संस्कृति पर भारतीय संस्कृति की छाप देखी जा सकती है, फिर भी उन्हें भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अतः भारतीय रहस्यवाद के रूप में ईसाई और मुस्लिम रहस्यवाद का विवेचन-विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

भारतीय दृष्टि से रहस्यवाद की परिभाषा

पूर्व के पृष्ठों में रहस्यवाद की परिभाषा, उसके स्वरूप आदि का विवेचन किया गया है। रहस्यवाद के आधिकारिक विद्वानों की परिभाषाओं को वहाँ प्रस्तुत किया गया

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है और अंत में सबको मिलाकर एक व्यापक परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। भारतीय साहित्य के अंतर्गत 'रहस्यवाद' नया शब्द है जो प्राचीन भारतीय साहित्य में भी उपलब्ध नहीं होता है। यों अलग-अलग 'रहस्य' और 'वाद' शब्दों के प्रयोग प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सुलभ होते हैं। प्राचीन साहित्य में 'रहस्य संप्रदाय' शब्द मिलता है। जैसे शिवसूत्रविमर्शिनी की प्रस्तावना में क्षेमराज ने 'रहस्य संप्रदाय' का उल्लेख किया है।[6] हमने पहले देखा है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में रहस्य शब्द के साथ गुह्य मार्ग, गुह्य तत्व, गोप्य, उपनिषद् आदि शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। ये शब्द प्रायः एक ही आशय की ओर संकेत करते हैं। अतः रहस्य और वाद का संयुक्त प्रयोग भारतीय साहित्य में सुलभ नहीं होता है।

उपनिषद् शब्द का रहस्य अर्थ में प्रयोग होता है। उपनिषदें स्वयं उपनिषद् शब्द का प्रयोग रहस्य अर्थ में करती हैं। केनोपनिषद् 'उपनिषदं भो ब्रूहि....' में उपनिषद् का प्रयोग रहस्य अर्थ में करती है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में उपनिषद् को गुह्य कहा गया है।[7] अतः औपनिषद विद्या को गृह्यविद्या कहा गया है। प्रायः इसे अध्यात्म विद्या अथवा ब्रह्मविद्या के नाम से भी अभिहित किया जाता है। शंकराचार्य के (कठभाष्य) अनुसार उपनिषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्मविद्या तथा गौण अर्थ है ब्रह्मविद्या प्रतिपादक ग्रंथ विशेष। जिस विद्या के अध्ययन करने से दृष्टानुश्रविक विषयों से वितृष्ण मुमुक्षुजनों की संसार बीजभूत अविद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन में गर्भवासादि दुःखवृन्दों का सर्वदा शिथिलीकरण हो जाता है, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है।[8] परमात्मतत्व को, जो अचिन्त्य सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वव्याप्त आदि है, वाणी आदि इन्द्रियों के व्यापार से परे बताया गया है। आत्मतत्ववेत्ता ही इस तत्व को समझ सकता है, पर बाह्य रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकता। इस समय उस आत्मतत्ववेत्ता को निरतिशय आनंन्द की उपलब्धि होती है। यह स्थिति स्वानुभूत्यैकगम्य है, अपनी ही अनुभूति उसे बता सकती है। परानुभूति तो उसकी एक फीकी झलक है । इस प्रकार की यह जो अपरोक्षानुभूति है, उसे उपनिषदों का रहस्यवाद कह सकते हैं।[9]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है प्राचीन भारतीय वाङ्मय में रहस्यवाद के अर्थ में अध्यात्मविद्या, अथवा ब्रह्मविद्या, उपनिषद्, गुह्यमार्ग आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। हमने देखा है कि भारतीय धर्म निगमा-गममूलक है, जिसमें अध्यात्मवाद की प्रधानता है। वस्तुतः अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या ही भारतीय रहस्यवाद है जिसके अन्तर्गत निगमागम सम्मत रहस्यवाद का अध्ययन ग्राह्य है।

ऊपर की संक्षिप्त चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय अध्यात्मविद्या अथवा भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत साध्य, साधन एवं अनुभूति का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

विवेचन होता है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय रहस्यवाद का विषय है– मूल रहस्य तत्व (साध्य), मूल रहस्य तत्व की उपलब्धि की प्रक्रिया (साधन) तथा मूल रहस्य तत्व की आध्यात्मिक अनुभूति। साथ ही उक्त अनुभूति की अभिव्यक्ति शैली को भी भारतीय रहस्यवाद का विषय बनाया जा सकता है। इस प्रकार रहस्यवाद परमात्म-सत्ता के साथ होने वाले ऐक्य के लिए किये गये प्रातिभ साक्षात्कार की स्वानुभूति से संपन्न मानव चेतना अथवा मनोवृत्ति का साधन एवं जीवन दर्शन है। साहित्य में इसकी अभिव्यक्ति सांकेतिक, प्रतीकात्मक एवं पौराणिक शैली के माध्यम से होती है।

प्रथम खंड में मैंने अनेक परिभाषाओं के संक्षिप्त विवेचन-विश्लेषण के पश्चात् अंत में रहस्यवाद की एक विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की है जो भारतीय रहस्यवाद की विशेषताओं और अंगों को भी प्रस्तुत करती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद सर्वव्यापक, सर्वातीत, सत्य-शिव-सुन्दर, सच्चिदानंद रूप, पूर्ण एवं नित्य, विश्वात्मक परमात्मसत्ता के साथ होने वाले अनिवर्चनीय, अद्वयात्मक ऐक्य अथवा विशिष्ट पूर्णजीवन के हेतु चरम सत्यान्वेषण के लिए किये गये अतीन्द्रिय एवं अद्वयात्मक प्रातिभ साक्षात्कार की स्वानुभूति से संपन्न मानवचेतना अथवा मनोवृत्ति का आन्तरिक, आचार प्रधान, अनुशासन सम्पन्न, उन्नायक, रचनात्मक, हार्दिक, संवेगात्मक, विवेकपूर्ण, अबुद्धिबोध्य, शास्त्रनिरपेक्ष, तर्कमुक्त साधन एवं जीवनदर्शन है जिसकी अभिव्यक्ति सांकेतिक, प्रतीकात्मक एवं पौराणिक शैली के माध्यम से साहित्य में संभव हो पाती है। इस परिभाषा में साध्य, साधक एवं साधन, अनुभूति, सिद्धान्त और अभिव्यक्ति को स्थान दिया गयाहै । इसके साथ ही उसके मनोविज्ञान और आचार-विज्ञान को भी ध्यान में रखते हुए उसके अभिव्यक्ति वैशिष्ट्य को भी प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय रहस्यवाद का स्वरूप और उसके भेद

भारतीय संस्कृति के समान ही भारतीय रहस्यवाद भी निगमागममूलक है, जिसमें निगम अर्थात् वैदिक रहस्यवाद तथा आगम अर्थात् तांत्रिक रहस्यवाद का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार भारतीय रहस्यवाद के अंतर्गत याज्ञिक, औपनिषद्, गीतागत, पुराणगत, मध्यकालीन भक्ति संप्रदाय-गत, तांत्रिक, बौद्ध, जैन आदि रहस्यवादों का अध्ययन किया जाता है। रहस्यवाद के स्वरूप की चर्चा प्रथम खंड में विस्तार से की गयी है। वहाँ कहा गया है कि रहस्यवाद सर्वव्यापक, सर्वातीत, सत्य-शिव-सुन्दर सच्चिदानन्द रूप, पूर्ण एवं नित्य, विश्वात्मक परमात्म सत्ता के साथ होने वाला अनिवर्चनीय अद्वयात्मक ऐक्य है अथवा विशिष्ट पूर्ण जीवन के लिए चरमसत्यान्वेषण है। इस प्रकार रहस्यवाद का साध्य है परमसत्ता जो सर्वव्यापक, सर्वातीत, पूर्ण नित्य आदि वैशिष्ट्य से संपन्न है । उसके साथ होने वाला ऐक्य वर्णनातीत है, वाणी की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सीमा से परे है एवं द्वैधवृत्ति से शून्य है, पूर्ण एवं एकरस है। विशिष्ट पूर्ण जीवन के लिए किया गया चरमसत्यान्वेषण भी इसी प्रकार का है। रहस्यवाद उक्त ऐक्य अथवा चरमसत्यान्वेषण के लिए किये गये अतीन्द्रिय एवं अद्वयात्मक प्रातिभ साक्षात्कार की स्वानुभूति से सम्पन्न मानव चेतना अथवा मनोवृत्ति का साधन एवं जीवन दर्शन है। उक्त ऐक्य अथवा चरमसत्यान्वेषण के लिए किया गया साक्षात्कार इन्द्रियातीत एवं एकरस होता है। वह प्रातिभ होता है। मानव चेतना उक्त साक्षात्कार की अखण्ड अनुभूति से परिपूर्ण होती है। रहस्यवाद आंतरिक साधन और जीवन दर्शन है। उसमें बाह्य साधनों का कोई महत्व नहीं होता है। यह साधन और जीवन दर्शन आचार प्रधान, अनुशासन सम्पन्न, उन्नायक, रचनात्मक, हार्दिक संवेगात्मक एवं विवेकपूर्ण होता है। यह रहस्यवाद बुद्धि के क्षेत्र से परे होता है जिसमें शास्त्र एवं तर्क का सर्वथा अभाव रहता है। सांकेतिक, प्रतीकात्मक एवं पौराणिक शैली के माध्यम से रहस्यवाद साहित्य में अभिव्यक्त हो पाता है। यह अभिव्यक्ति भी स्वभावतः अधूरी ही रहती है, क्योंकि रहस्यानुभूति कभी भी पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं हो सकती।

इस प्रकार मूल तत्व (साध्य), मूल तत्वोपलब्धि की प्रक्रिया (साधन) तथा मूलतत्व की आध्यात्मिक अनुभूति– ये रहस्यवाद के अंग हैं। उक्त रहस्यतत्व की अभिव्यक्ति शैली को भी रहस्यवाद के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। उस रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति सांकेतिक, प्रतीकात्मक एवं पौराणिक शैली के माध्यम से होती है। रहस्यवाद के अंतर्गत साधक भी कम महत्वपूर्ण नहीं होता है। अतः साध्य, साधक, साधनोपाय, रहस्यानुभूति, रहस्याभिव्यक्ति की शैली आदि से रहस्यवाद के स्वरूप का निर्धारण होता है। भारतीय अध्यात्मविद्या में इन सबको गुह्य अथवा रहस्य अथवा उपनिषद् कहा गया है। उपनिषदों को तो अध्यात्म अथवा ब्रह्मविद्या प्रतिपादक ग्रंथ कहा ही गया है। इन उपनिषदों अथवा भारतीय अध्यात्मविद्या के अन्य ग्रंथों में रहस्यवाद के साधनोपायों पर विशेष बल दिया गया है, क्योंकि इन साधनोपायों द्वारा ही रहस्यानुभूति की उपलब्धि होती है।

भारतीय धर्म के अन्तर्गत वैदिक धर्म एवं परम्परा से भिन्न जैन एवं बौद्ध धर्म को भी ग्रहण किया जाता है। डॉ० रानडे ने भारतीय रहस्यवाद के अंतर्गत मराठा संतों के रहस्यवाद का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसके कई भेदों की चर्चा की है— (1) बौद्धिक रहस्यवाद, (2) प्रजातांत्रिक रहस्यवाद, (3) समन्वयात्मक रहस्यवाद, (4) व्यक्तित्वपरक रहस्यवाद, (5) कर्मपरक रहस्यवाद। इसी प्रकार डॉ० सुरेन्द नाथ दासगुप्त ने 'हिंदू मिस्टिसिज्म' के अंतर्गत कर्मकाण्डात्मक रहस्यवाद, औपनिषद् रहस्यवाद, योगपरक रहस्यवाद, बौद्ध रहस्यवाद, भक्तिपरक रहस्यवाद (क्लासिकल

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

फार्म्स ऑफ डिवोसनल मिस्टिसिज्म और पापुलर डिवोसनल मिस्टिसिज्म) का विवेचन किया है। प्रथम खंड के अन्तर्गत इनकी चर्चा की गयी है। वस्तुतः जैन रहस्यवाद को भी भारतीय रहस्यवाद के अन्तर्गत ग्रहण किया जाना चाहिए।

धर्म अथवा संप्रदाय की दृष्टि से भारतीय रहस्यवाद को वैदिक रहस्यवाद, तांत्रिक, बौद्ध, जैन रहस्यवाद आदि भेदों में बाँटा जा सकता है। तत्वोपलब्धि की प्रक्रिया अर्थात् साधन की दृष्टि से विचार करने पर भारतीय रहस्यवाद को निम्नांकित प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) योगपरक रहस्यवाद

(2) भक्तिपरक रहस्यवाद

(3) ज्ञानपरक रहस्यवाद

(4) कर्मपरक रहस्यवाद

योग, भक्ति, कर्म और ज्ञान ये भारतीय अध्यात्म साधना के प्रधान साधनोपाय हैं। लगभग सभी प्रकार के साधनों का इनमें समावेश हो जाता है। उपर्युक्त भेद इन्हीं चार साधनों के आधार पर निर्धारित किये गये हैं। भारतीय रहस्यवाद के लगभग सभी भेदों का किसी न किसी रूप में इन चार भेदों में समावेश हो जाता है। इसीलिए आगे के पृष्ठों में इनका विशेष उपयोग किया गया है।

भारतीय रहस्यवाद का विकासात्मक अध्ययन :
[वैदिककाल से लेकर मध्यकाल तक]

भारतीय रहस्यवाद का आदिरूप वेदों में देखने को मिलता है। वेदों के याज्ञिक रहस्यवाद से शुरू होकर भारतीय रहस्यवाद विविध रूपों में विकसित होता रहा है। उपनिषद् वैदिक साहित्य के अंतिम भाग हैं जिनमें भारतीय रहस्यवाद के योग, कर्म, ज्ञान एवं भक्ति साधनों की विवृत्ति किसी न किसी रूप में मिल जाती है। इस प्रकार उपनिषदों से लेकर मध्यकाल तक भारतीय रहस्यवाद के विविध रूप पुष्पित एवं पल्लवित होते रहे हैं।

वेद, ब्राह्मण ग्रंथ तथा आरण्यक ग्रंथ

वेद मानव इतिहास के प्राचीनतम ग्रंथ माने जाते हैं। वेद अक्षय विचारों का मानसरोवर है जिससे अनन्त ज्ञान सरिताएँ प्रवाहित हुई हैं। वस्तुतः वेद भारतीय धर्म एवं दर्शन के प्राण माने गये हैं। भारतीय रहस्यवाद का मूल एवं आदि स्वरूप वेदों में ही उपलब्ध होता है। भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य एवं निखिल ज्ञान के अमूल्य भण्डारागार हैं तथा धर्म का साक्षात्कार करने वाले महर्षियों द्वारा अनुभूत

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परमतत्व के परिचायक हैं। वेदों में इष्ट-प्राप्ति एवं अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपायों को बताया गया है। कहा जाता है कि वेद की वेदता इसी में है कि वे प्रत्यक्ष से अगम्य तथा अनुमान द्वारा अनुद्भावित अलौकिक उपायों का बोध कराते हैं।[10]

वेद के तीन विभाग बताये गये हैं—संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक। मंत्रों के समूह को संहिता कहते हैं। किसी देवता विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थस्मारक वाक्य मंत्र कहलाते हैं। संहिताएँ चार हैं—ऋक् संहिता, साम संहिता, यजुः संहिता एवं अथर्व संहिता। यज्ञ की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर ही महर्षि वेदव्यास ने इन संहिता-चतुष्टय का संकलन किया था। यज्ञानुष्ठान के लिए चार ऋत्विज होते हैं—होता, उद्गाता, अध्वर्यु एवं ब्रह्मा। होता का अर्थ है पुकारने वाला जो देवता के प्रशंसात्मक मंत्रों का उच्चारण कर तत्तद्देवता का आह्वान करता है। ऋक् संहिता में हौत्र कार्य के लिए ऐसे मंत्रों का संकलन किया गया है। उद्गाता ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर मधुर स्वर में उन्हें गाता है। साम संहिता में ऐसे मन्त्रों का संकलन है। यज्ञानुष्ठानों का विधिवत् संपादन अध्वर्यु करता है जिसके लिए यजुः संहिता का उपयोग किया जाता है। ब्रह्मा का कार्य है समग्र यज्ञ का विधिवत् निरीक्षण करना जिससे अनुष्ठान निर्विघ्न संपन्न हो सके। ब्रह्मा को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिए। यों उनका विशिष्ट वेद अथर्व वेद है। यज्ञानुष्ठान का विस्तारपूर्वक वर्णन करने वाले ग्रंथ ब्राह्मण हैं, जिनका प्रधान विषय है—ब्रह्मन। (बृहू बर्धने, बढ़ने वाला अर्थात् वितान, यज्ञ)। ब्राह्मण ग्रंथों के बाद अरण्यकों का स्थान है। अरण्य में पठनीय होने के कारण ये आरण्यक कहलाते हैं । वानप्रस्थ आश्रम के उपयोगी क्रिया-कलापों का वर्णन तथा विशेषतः योगविधान के आध्यात्मिक रहस्य की मीमांसा आरण्यक ग्रंथों में सुलभ होती है। आरण्यकों के अंतिम भाग हैं उपनिषद् जिनमें अध्यात्म विषयक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विधिवत् विवेचन किया गया है।[11]

वैदिक यज्ञादि कर्म को कर्मकाण्ड के नाम से जाना जाता है तथा उपनिषदों को ज्ञानकाण्ड कहा जाता है। वैदिक साहित्य के अंत में आने के कारण उपनिषदें वेदान्त भी कही जाती हैं। कर्मकाण्ड अथवा यज्ञादि कार्यों की प्रधानता के कारण डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने वेदों के रहस्यवाद को याज्ञिक अथवा कर्मकाण्डात्मक रहस्यवाद (सैक्रीफिसियल मिस्टिसिज्म) के नाम से संबोधित किया है। वैदिक लोग देवताओं की तुलना में यज्ञ को अधिक शक्तिशाली मानते थे। यज्ञ द्वारा किसी भी देवता को प्रसन्न अथवा अप्रसन्न किया जा सकता था। यदि विधि-विधान से यज्ञ संपन्न हो गया तो मनोकामनाएँ निश्चित ही पूर्ण होती थीं। इस प्रकार यह माना जाता था कि यज्ञ में रहस्यमय शक्ति विद्यमान है जिससे व्यक्तियों के लाभ के लिए विश्व के क्रियाकलापों का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

संचालन एवं रूपान्तरण हो सकता है। यज्ञ (सेक्रीफाइसेज) अथवा उनकी रहस्यमय शक्तियों को धर्म कहा गया। यह धर्म अंग्रेजी के 'रेलिजन' शब्द का पर्याय नहीं है अर्थात् उससे भिन्न है। वैदिक मंत्र, पुरोहित (प्रिस्ट्स) और यज्ञ को महत् के नाम से भी जाना जाता है।[12] यह कहा जा सकता है कि याज्ञिक रहस्यवाद किसी देवता या परम सत् का साक्षात्कार नहीं करता है, जिससे ये मंत्र उद्भूत हुए हैं अथवा जिसने इन मंत्रों का मनुष्य के लिए प्रातिभ साक्षात्कार कराया है। ये मंत्र शाश्वत सत्य अनादि एवं अमर समझे जाते हैं और जो मनुष्य के लिए स्वयं उद्भूत हुए हैं। वस्तुतः वेद शाश्वत सत्य के प्रातिभ साक्षात्कार हैं तथा ये ऐसे सत्य हैं जो मानव-तर्क द्वारा अकाट्य हैं।[13]

कहा जाता है कि ऋग्वेद के मंत्र किसी एक पुरूष अथवा किसी एक युग में साक्षात्कार हुए प्रतीत नहीं होते। वस्तुतः इन्हें अपौरुषेय माना जाता है। वेदों में भारतीय रहस्यवाद के क्रमबद्ध विकास का परिचय मिलने लगता है। वेदों में रहस्यमय सत्ता के अनेक रूपों का परिचय मिलता है। ऋग्वेद के सभी मंत्र किसी न किसी देवता विशेष की स्तुति के निमित्त हैं। वस्तुतः वेदों में रहस्यमय परोक्षसत्ता का स्वरूप प्राकृतिक शक्तियों के रूप में दिखायी देता है। प्रकृति की विविध शक्तियाँ ही देवता रूप में वर्णित हुई हैं जिन्हें अप्रतिम रहस्यमय शक्ति से युक्त बताया गया है। ये वैदिक देवता कोई विशेष व्यक्तित्व वाले नहीं हैं, वे वस्तुतः प्रकृति की शक्तियों के परिचायक मात्र हैं।[14]

वेदों में देवता–बाहुल्य के दर्शन होते हैं जहाँ देवताओं की स्तुति ही प्रधान विषय है। स्थान विभाग की दृष्टि से निरुक्तकार यास्क ने देवताओं को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है—पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्षस्थान देवताओं में इन्द्र महत्वपूर्ण है तथा आकाशस्थानीय (द्युस्थान) देवताओं में सूर्य, सविता, विष्णु आदि सौर देवताओं को प्रधान माना गया है। अग्नि प्राणियों का सर्वाधिक हितकारक देवता है जिसकी कृपा से नित्य ही अन्न, धन, पुत्र, पौत्र आदि समृद्धि की उपलब्धि होती है। इन्द्र बज्रवाहु है जो संग्राम में विजय प्रदान करते हैं। इन्द्र पुरन्दर हैं तथा वृष्टि के देवता हैं। विष्णु आकाशगामी सतत् क्रियाशील सूर्य के प्रतीक हैं। सवितृदेव सुप्त प्राणियों में जीवन का संचार करते हैं। ऋग्वेद में देवों के साथ देवियों की भी कमनीय कल्पना की गयी है। द्यौ (आकाश) की पुत्री देवी उषा सबसे सुंदर देवी हैं। कहा जाता है कि आगे चलकर इन देवों की संख्या में वृद्धि एवं ह्रास होता रहा। यथा वरुण की महिमा में ह्रास हुआ तथा मनु श्रद्धा आदि नये-नये देवों की सृष्टि हुई। वस्तुतः ऋग्वेद इस ब्रह्माण्ड के अनुपम शक्तिशाली एक नियन्ता से परिचित है। उसमें नाना प्रकार के देवताओं को उस एक नियन्ता की विविध शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाया गया है । इस प्रकार वैदिक धर्म अद्वैत तत्व के ऊपर आश्रित हैं। वैदिक कालीन "आर्षचक्षुः संपन्न" ऋषियों ने अनेकता के बीच एकता का दर्शन किया है।[15]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वैदिक देवताओं के अनेक स्वरूप और वर्णन मिलते हैं जिनके आधार पर सामान्य जिज्ञासु यह सोचते हैं कि वैदिक काल के लोग बहुदेववादी थे, लेकिन वस्तुतः इस काल में न एकेश्वरवाद था और न बहुदेववाद ही। वैदिक लोगों में अपने उपास्य देवता के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास की ऐसी भावना थी जिससे एकेश्वरवाद एवं बहुदेववाद दोनों की उद्भूति हुई होगी। बहुदेववाद में प्रत्येक देवता के प्रति अपनी पृथक् निष्ठा निर्धारित होती है जो वेदों में नहीं है। वैदिक व्यक्ति के लिए प्रकृति का प्रत्येक रूप अद्भुत था जिसे देखकर उनके मन में अनुपम श्रद्धा एवं प्रेम जागृत हो उठता था। अतः जिस समय वे किसी एक देवता की स्तुति करते थे, उस समय उनके लिए वह देवता विशेष ही सर्वोपरि था और अन्य देवताओं का उस समय उसके लिए कोई महत्व नहीं था। वस्तुतः वैदिक पुरोहितों एवं स्तुतिकर्ताओं की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है कि वे जिस समय एक देवता विशेष की असामान्य भक्ति एवं प्रशंसापूर्ण स्तुति करते हैं उस समय वे उस देवता विशेष के माहात्म्य के सम्मुख किसी भी अन्य देवता का कोई ध्यान नहीं रखते। उन्हें उन में यह विश्वास भी है कि अन्ततोगत्वा सभी देवता एक हैं और उनमें से प्रत्येक विशिष्ट देवता सभी देवताओं के एकीभूत प्रतीक के रूप में माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में डॉ० दासगुप्त ने लिखा है—"लेकिन चाहे हम इसे हेनोथीइज्म के नाम से पुकारे अथवा देवता विशेष की शक्तियों की क्षणिक अतिशयोक्तिमय स्तुति समझें, यह स्पष्ट है कि इस स्थिति को हम न बहुदेववाद के नाम से पुकार सकते हैं और न एकेश्वरवाद के नाम से। यह एक ऐसी स्थिति है कि जिसमें दोनों ओर झुकाव पाया जाता है लेकिन कोई भी स्थिति इतनी सुस्पष्ट नहीं हो पायी है कि हम उसको कोई भी संज्ञा दे सकें। अतिशयोक्ति के कारण प्रत्येक देवता की स्तुति में बीज रूप से एकेश्वरवाद के प्रति प्रवृत्ति मानी जा सकती है और दूसरी ओर प्रत्येक देवता की स्वतंत्र स्थिति के होते हुए भी उन सबकी साथ-साथ रहने की अवस्था को हम बहुदेववाद का बीज सूत्र भी मान सकते हैं।"[16]

ऋग्वेद में आये वर्णनों से पता चलता है कि वैदिक साधकों का झुकाव किसी भी देवता की विशेष प्रशंसा, स्तुति एवं उच्चतम महत्व प्रदर्शित करने की ओर था। इस झुकाव के कारण धीरे-धीरे इस भावना का जन्म हुआ कि विश्व के सम्पूर्ण प्राणियों का एक प्रभु है जिसे प्रजापति के नाम से पुकारा जाने लगा। रहस्यवादी विचारधारा के विकास की दृष्टि से यह एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात थी। यह मस्तिष्क के विकासक्रम की एक विशेष उच्च अवस्था का परिचायक था जिसमें एक ऐसे देवता के प्रति निष्ठा व्यक्त की गयी थी जो संपूर्ण नैतिक एवं भौतिक शक्तियों के आदि स्रोत के साथ उनका अधिष्ठाता भी था। यों उक्त देवता का साक्षात् दर्शन संभव नहीं था। इस प्रकार प्रजापति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नाम का देवता, जो सभी प्राणियों का स्वामी था, सर्वोपरि देव अथवा देवाधिदेव के रूप में स्वीकार किया गया।[17] इस एक देवता को अनेक नामें से अभिहित किया गया– जैसे प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पुरुष, अदिति, स्कम्भ, उच्छिष्ट आदि। हिरण्यगर्भ को अधिपति बताया गया। उनका स्वरूप अनिवर्चनीय है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति सर्वश्रेष्ठ देवता है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में कहा गया है कि हजार मस्तक, हजार आँखों, एवं हजार पैरों वाला पुरुष इसी पृथ्वी को चारों ओर से आवृत्ति किये हुए हैं और जो परिमाण से दश अंगुल अधिक है। जो कुछ वर्तमान है, जो कुछ हुआ था तथा जो कुछ होने वाला है, वह सब पुरुष ही है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

इस सूक्त में सर्वेश्वरवाद का सिद्धान्त द्रष्टव्य है। इसी प्रकार अदितिसूक्त में अदिति को ही अन्तरिक्ष, आकाश, माता, पिता, पुत्र आदि सबकुछ बताया गया है। अथर्ववेद के स्कंभ सूक्त एवं उच्छिष्ट सूक्त में ब्रह्म की सर्वव्यापकता एवं आत्मा से अभिन्नता दिखायी गयी है। स्कंभ ब्रह्म की अन्यतम संज्ञा है। स्कंभ विश्व का कारण है और सबका आधार है। वह भूत, भविष्य तथा संपूर्ण वर्तमान का अधीश्वर है। एक मंत्र में 'स्कंभ' की आत्मा के साथ एकता दिखायी गयी है–

अकामों धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥

उच्छिष्ट सूक्त में बाधारहित परब्रह्म को उच्छिष्ट (शेष) कहा गया है। संपूर्ण विश्व ही उच्छिष्ट पर अवलंबित है। उच्छिष्ट की महिमा अनिवर्चनीय है। इस प्रकार इन सूक्तों के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ एवं उच्छिष्ट एक ही परमतत्व के वाचक हैं। इसे हम उपनिषदों के ब्रह्म तत्व और ब्रह्मात्मैक्यवाद की पूर्व पीठिका मान सकते हैं। वस्तुतः उपनिषदों में इन्हीं संकेतों का पल्लवन हुआ है और यही उसका मुख्य लक्ष्य है।[18]

परमतत्व परमात्मा ही रहस्यवाद का लक्ष्य है। वैदिक ऋषि इसी तत्व का अनुसंधान करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस जगत् का कर्ता एवं नियामक वह परमात्मा एक और अद्वितीय है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त ऋषियों की आध्यात्मिक दृष्टि एवं अद्वैतभावना को अभिव्यक्त करता है। अन्ततः इस सूक्त में यह कहा गया है कि वह परमतत्व एक है, अद्वितीय है जिससे यावत् चेतन-अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। उसके लिए नपुंसक तत् एवं सत् शब्दों का प्रयोग किया गया है। अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि देवता उसी के विभिन्न रूपों को धारण करते हैं। मनुष्यों की मधुरवाणी, पक्षियों के कलरव, पुष्पों के विकास, प्रचण्ड गर्जन एवं तूफान में उसी के रूप दिखायी देते हैं। इस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रकार आर्ष प्रतिभा ने भिन्नता में अभिन्नता के स्वर को पहचानकर एक, अद्वितीय परमतत्व की उपलब्धि की जिसका पूर्ण विकास उपनिषदों में दिखायी देता है।[19]

वेदों के भाष्यकार सायणाचार्य ने ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थों को बताया है जिसे हेग महोदय ने संकलित किया है—(1) बलि या अन्नाहुति, (2) सामगान, (3) तन्त्र और तन्त्र विद्या, (4) सफल याज्ञिक अनुष्ठान, (5) मन्त्रोच्चार एवं आहुतियाँ, (6) होता द्वारा मंत्रपाठ, (7) महान्। रोथ महोदय ने भी ब्रह्म शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हेतु आत्मिक प्रेरणा एवं निष्ठायुक्त आत्मानन्द, लेकिन शतपथ ब्राह्मण में जो ब्रह्म शब्द की कल्पना की गयी है उसी पर ब्रह्म की अवधारणा प्रतिष्ठित हुई। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्रह्म आदि काल में संपूर्ण विश्व (प्रकृति) के रूप में था जिसने देवताओं का सृजन कर उनको विश्व में आरूढ़ किया। इसी प्रकार उसने अग्नि को पृथ्वी पर, वायु को वातावरण में, सूर्य को अंतरिक्ष में स्थापित कर स्वयं दूसरे लोक में प्रवेश किया। ब्रह्माण्ड में पुनः प्रवेश की दृष्टि से ब्रह्म ने नाम और रूप इन दो रूपों में विश्व में प्रवेश किया। किसी वस्तु की संज्ञा ही नाम है और जो संज्ञाहीन है वह रूप है। संपूर्ण विश्व इन नामों और रूपों में ही अवस्थित है। एक दूसरे स्थान पर ब्रह्म को अद्वितीय चरमशक्तियुक्त तथा स्वयंभू बताया गया है तथा उसे प्रजापति, पुरुष, प्राण कहकर संबोधित किया गया है।[20]

वैदिक यज्ञादि कर्मकाण्ड में कर्मवाद का प्रारम्भिक स्वरूप देखा जा सकता है। यज्ञ में किसी विशेष देवता का आह्वान किया जाता है और उन्हें बलि दी जाती थी, फिर भी उक्त देवता विशेष को यज्ञ की धार्मिक क्रियाओं की पूर्ति में साधनमात्र माना गया। अतः अपनी रहस्यमय शक्तियों के कारण यज्ञ देवता से भी विशिष्ट माना गया। यह भी बताया गया कि यज्ञ के चमत्कार से मनुष्यों ने अनेकशः देवत्व प्राप्त किया। यज्ञ करना और कराना मनुष्य का एक मात्र कर्तव्य समझा जाने लगा और इसे कर्म अथवा क्रिया के नाम से संबोधित किया गया। इसके साथ ही यह भी समझा जाने लगा कि नियमानुसार कर्म का फल श्रेय अथवा अश्रेय के रूप में निश्चित ही मिलेगा। इस प्रकार डॉ. दासगुप्त के शब्दों में कहा जा सकता है—"भारतीय विचारधारा पर आजतक जिस कर्मवाद का महान् प्रभाव है उस वाद का सूत्रपात इसी काल में हुआ।"[21] उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट रूप से यह कहा जा सकता है कि भारतीय रहस्यवाद के एक भेद कर्मपरक रहस्यवाद का मूल एवं प्रधान रूप वैदिक काल में देखने को मिलता है।

वेदों के कर्मकाण्डीय दर्शन को रहस्यवाद का प्रारम्भिक स्वरूप माना जा सकता है। इस वैदिक रहस्यवाद ने भारत में उत्पन्न होने वाले रहस्यवाद के अन्य रूपों के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। वैदिक याज्ञिक रहस्यवाद के विकास के दूसरे चरण में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस प्रकार का चिंतन शुरू हुआ जिसके अनुसार यज्ञ के स्थूल रूप को बुद्धिपरक अथवा वैचारिक बनाने का प्रयत्न किया गया। अब यज्ञ के विविध स्थूल क्रियाविधान अनावश्यक प्रतीत होने लगे। विशेष प्रकार के चिन्तन द्वारा यज्ञ की क्रियाएँ संपन्न होने लगीं जिससे यज्ञ-संपादन का ही फल मिल सकता था। ऐसा माना जाने लगा कि विशेष प्रकार के चिंतन-मनन में ही रहस्यवादी शक्तियां मिल सकती हैं, न कि बाह्य क्रियाविधानों में। इस प्रकार बाह्य क्रियाविधानों एवं आन्तरिक चिंतन-मनन के फलस्वरूप उस ब्रह्मन् की अवधारणा का जन्म हुआ जिसने सभी देवताओं एवं सम्पूर्ण विश्व की रचना की।[22]

ऊपर के विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक साहित्य में याज्ञिक रहस्यवाद पाया जाता है। वेदों में रहस्यवाद का प्रारम्भिक स्वरूप देखने को मिलता है। भारत में विकसित होने वाले रहस्यवाद के अन्य रूपों का बीजरूप भी वेदों में मिल जाता है । याज्ञिक कर्मकाण्ड के रूप में ही वेदों में रहस्यवाद की स्थिति मानी गयी है। यज्ञ के आधार पर किसी भी वस्तु, सुख आदि की उपलब्धि सम्भव है। यज्ञ द्वारा किसी देवता को प्रसन्न अथवा अप्रसन्न किया जा सकता था । वेदों में प्रकृति के विविध रूप ही देवता के रूप में कल्पित किये गये हैं और उन्हीं की स्तुति से ऋग्वेद भरा पड़ा है। वेदों में यह भी बताया गया है कि यज्ञ के विधिवत् संपादन से व्यक्ति देवत्व को भी प्राप्त कर सकता है । बाद में चलकर विभिन्नता में एकता की स्थिति आने लगी। सभी देवों में एक देवता को सर्वोपरि, देवाधिदेव माना जाने लगा। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त, पुरुष सूक्त, अदितिसूक्त तथा अथर्ववेद के स्कंभ सूक्त एवं उच्छिष्ट सूक्त में ऐसे ही विचार व्यक्त किये गये हैं। ऐसे एक देवता को पुरुष, हिरण्यगर्भ, प्रजापति, अदिति आदि नामों से अभिहित किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति को सर्वश्रेष्ठ देवता बताया गया है। जो कुछ इस समय है तथा भविष्य में जो कुछ होने वाला है और भूतकाल में जो कुछ हुआ था, वह सब पुरुष ही है। इस प्रकार अनेक देवताओं में एक सर्वोपरि देवता के दर्शन किये गये। बाद में चलकर यज्ञ के बाह्य क्रियाविधान की ओर से वैदिक लोगों का ध्यान हटता गया और वैचारिक यज्ञ विशिष्ट चिंतन-मनन के रूप में संपन्न होने लगे। वैदिक साहित्य में कर्मवाद एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त की झलक भी मिल जाती है। एक प्रकार से कर्मपरक रहस्यवाद का मूल स्वरूप यहाँ उपलब्ध हो जाता है। वेदों में स्कम्भ की आत्मा के साथ एकता भी स्थापित की गयी है। उपनिषदों के महान् आत्मसिद्धान्त का प्रारम्भिक रूप वेदों में द्रष्टव्य है। साथ ही उपनिषदों के ब्रह्मतत्त्व और ब्रह्मात्मैक्यवाद की पूर्वपीठिका भी वेदों में सुलभ हो जाती है । इस प्रकार वैदिक साहित्य में रहस्यवाद के साध्य के रूप में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनेक देवताओं की चर्चा की गयी है, परन्तु अन्ततोगत्वा एक एवं अद्वितीय परमतत्व की कल्पना की गयी है। रहस्यवाद के साधन के रूप में याज्ञिक कर्मकाण्ड की प्रधानता दिखायी देती है जो बाद में चलकर धीरे-धीरे गौण होने लगा।

औपनिषद रहस्यवाद

उपनिषदों में वास्तविक रहस्यवादी चिन्तन के दर्शन होते हैं। औपनिषद विद्या को गुह्य विद्या कहा जाता है। प्रायः इसे अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या के नाम से जाना जाता है। उपनिषद् शब्द का रहस्य अर्थ में प्रयोग होता है। स्वयं उपनिषदों में ही उक्त अर्थ में उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है। कठोपनिषद् उपनिषद् को गुह्य कहती है। वह परमात्म तत्व जो अचिन्त्य, सर्वकाम, सर्वगंध, सर्वरूप, सर्वव्याप्त आदि है, वाणी आदि इन्द्रियों के व्यापार से परे हैं। आत्मतत्ववेत्ता ही इस तत्व को समझ सकता है, परन्तु बाह्य माध्यमों द्वारा उसकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। इस स्थिति में आत्मतत्वज्ञ को निरतिशय आनन्द की उपलब्धि होती है। वस्तुतः यह स्थिति स्वानुभूत्यैकगम्य होती है, अपनी ही अनुभूति उसे बता सकती है, परानुभूति तो उसकी एक फीकी झलक मानी जाती है । इस प्रकार की अपरोक्षानुभूति को हम उपनिषदों का रहस्यवाद कह सकते हैं। पूर्व के पृष्ठों में उपर्युक्त तथ्यों की चर्चा की गयी है।

यहाँ आरम्भिक और प्राचीन उपनिषदों को विवेचन के लिए ग्रहण किया गया है। डॉ० आर०डी० रानाडे ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर तेरह उपनिषदों को ही प्राचीन और आरंभिक माना है। ये उपनिषदें हैं—बृहदारण्यकोपनिषद्, छान्दोग्य, ईश, केन, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकि, कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर, प्रश्न, मैत्री और माण्डूक्य।[23] वस्तुतः इन उपनिषदों में हमें वास्तविक रहस्यवादी चिन्तन के दर्शन होते हैं। सर्वप्रथम, उपनिषदों में चिरंतन, परिवर्तनरहित एक तत्व का अनुसंधान किया गया है। दूसरे, ये उपनिषदें इस तत्व की प्राप्ति विभिन्न प्रकार के सांसारिक शोधों से अतीत प्रदेश में करती है जो अंतर्विरोधों और निषेधों का स्थान है। उपनिषदों में निर्वाचित परमतत्व संपूर्ण विश्व में परिव्याप्त है तथा अवाङ्मनोगोचर है। इसीलिए वह एक साथ ही 'सब कुछ है' और 'कुछ नहीं' भी है। उपनिषदों के सम्बन्ध में यह बात भी सिद्ध होती है कि रहस्यवाद सर्वाधिक बुद्धिवादी होने पर विपत्तिग्रस्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि उपनिषदों में मनुष्य और विश्व के परस्पर सम्बन्धों के उद्घाटन के प्रयत्न हैं तथा मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्धों के प्रति उपनिषदें प्रयत्नशील नहीं हैं। धार्मिक और नैतिक तत्वों की अपेक्षा इनमें तत्ववैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिक सबल दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों में विस्तृत रूप में गंभीर संवेगों से पूर्ण परमयोग की लालसा दिखायी देती है। यह रहस्यवादी मूल्य की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण है। कठोपनिषद् अपेक्षाकृत अधिक ईश्वरवादी है, अतः इसमें ईश्वरवादी संवेगों का दर्शन सर्वाधिक होता है।[24]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

औपनिषद दर्शन का शिखर बिन्दु रहस्यात्मक है अर्थात् उसका मूल स्वरूप गुह्यात्मक है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में औपनिषद रहस्यवाद प्राचीन द्रष्टाओं के दार्शनिक चिंतन के मात्र ज्वारभाँटा की लहर के सदृश था। यह एक अकृत्रिम दार्शनिक रहस्यवाद था। यह रहस्यवाद सत्य की प्रकृति से संबंधित विलक्षण काल्पनिक विचारों, विचित्र कल्पनाओं और साहसिक सिद्धान्तों के समान था। यह ऐसे लोगों का रहस्यवाद था जो मानवजाति की हलचलों से दूर आश्रमों में रहते थे तथा जो मात्र अपने शिष्यों के ही सम्पर्क में आते थे। इस प्रकार औपनिषद रहस्यवादियों ने एक सुचिन्तित उद्देश्य के साथ सामान्य मनुष्यों से हिल-मिलकर उनकी आध्यात्मिक दशा सुधारने की दृष्टि से कोई पहल नहीं की।[25]

ऐसा बताया गया है कि वैदिक शिक्षा कर्ममार्ग की ओर अग्रसर करती है। वैदिक यज्ञादि से कर्मकाण्ड संपन्न करने की प्रेरणा मिलती है। दूसरी ओर उपनिषदें किसी कर्मकाण्ड का विधान नहीं करती हैं, वे तो शाश्वत सत्य और यथार्थ का निरूपण करती हैं, जिसके ज्ञान से मनुष्य सांसारिक बंधनों से मुक्त होता है। संहिताओं के अंतिम काल में यह धारणा बन गयी थी कि इस निखिल विश्व का सृष्टिकर्ता और पालक कोई एक ही देवता है। इस एक देवता को ही पुरुष, प्रजापति, विश्वकर्मा, ब्रह्म, ब्रह्मणस्पति आदि नामों से पुकारा गया। परन्तु इस दैवी शक्ति को इस समय तक मात्र एक देवता के रूप में ही देखा जाता था। साथ ही इस एक देवता के सम्बन्ध में कोई एक सुनिश्चित धारणा नहीं बन सकी थी। अतः इसके स्वरूप, प्रकृति, स्थिति आदि के सम्बन्ध में उपनिषदकाल में दार्शनिक जिज्ञासा का विशेष रूप से समारम्भ हुआ। प्रकृति के नानाविध दृश्यमान रूप, जैसे सूर्य, चन्द्र, वायु आदि रूपों में इस एक देवता को देखने का प्रयास किया गया। अनेक मानसिक क्रियाओं के साथ ही इस महान् शक्ति की समानता दिखाने का प्रयास हुआ है। परन्तु उस महान् शक्ति के जिस भव्य रूप की कल्पना की गयी थी, उसके सम्बन्ध में इन भौतिक पदार्थों के साथ तुलना करने पर किसी प्रकार का संतोष प्राप्त न हो सका। उपनिषद् काल में ऋषियों ने यह कल्पना की थी कि सृष्टि का नियंत्रक, मानवीय भाग्य एवं विश्व-चक्र का विधायक एक महान् आत्मा ही हैं जिसे परमात्मा की भी संज्ञा दी जा सकती है। लेकिन औपनिषद ऋषियों के मन में इस परमात्मा के रूप, प्रकृति के बारे में बड़ी जिज्ञासा थी। इस प्रकार एक ओर यज्ञ और कर्मकाण्ड का स्थान ध्यान और धारणा ने ले लिया, तो दूसरी ओर ब्रह्म को सूर्य, वायु, प्राण, आकाश, चन्द्र आदि के साथ समन्वित करते हुए एक विशेष महान् शक्ति के रूप में देखा जाने लगा। इतना होने पर भी ब्रह्म की प्रकृति, रूप, स्थिति आदि के सम्बन्ध में औपनिषद ऋषि की जिज्ञासा संतुष्ट नहीं हुई। उनका ब्रह्मान्वेषण चलता रहा।[26]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपनिषदों में रहस्यवादी विचार किसी एक व्यक्ति अथवा गुरु (ऋषि) में केन्द्रित नहीं है। बौद्धधर्म और ईसाई धर्म में रहस्यवाद वैसे गुरुओं में केन्द्रित रहा है जिन्होंने अपने लोकोत्तर चरित्र द्वारा प्रेरणा दी है। परवर्ती हिन्दू धर्म श्रीकृष्ण के दैवी व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ है, लेकिन ये कृष्ण अवतार के रूप में देखे गये। हिन्दू धर्मावलंबियों ने सामान्यतः किसी एक विशेष गुरु की वाणी को अंतिम रूप में स्वीकार नहीं किया है, भले ही वे गुरु महान् क्यों न हों। औपनिषद् विचार विभिन्न गुरुओं द्वारा उद्भूत हुआ है। उपनिषदों के मूल पाठ सत्य के सम्बन्ध में अपूर्व एवं असामान्य मतैक्य का परिचय देते हैं। इनमें अनुभूत और साक्षात्कृत सत्य को व्यक्त किया गया है, जिन्हें आर्षवाणी के रूप में स्वीकार किया गया।[27]

औपनिषद ऋषियों ने ब्रह्म को शाश्वत एवं अंतिम सत्य के रूप में देखा, लेकिन वे उसकी प्रकृति, रूप आदि को निश्चयात्मक आकार नहीं दे सके। ऐसी स्थिति में उस अवर्णनीय तथ्य को व्यक्त करने के लिए निषेधात्मक शब्दावली का सहारा लेना पड़ा। उस ब्रह्म के लिए कहा गया है कि वह हमारे अनुभव में आये प्रत्येक वस्तु से भिन्न है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को समझाते हुए कहा है कि परमात्मा न यह है, न वह है। अतः बृहदारण्यकोपनिषद् नेति-नेति के माध्यम से ही ब्रह्म को अभिव्यक्ति करने में सफल होती है (स एष नेति नेत्यात्मा)। इतना ही नहीं, वह आत्मा अर्थात् ब्रह्म कल्पनातीत एवं अपरिवर्तशील है, अग्राह्य है, वह अशीर्य है अर्थात् उसका नाश नहीं होता, वह असंग है, वह कहीं आसक्त नहीं होता वह बँधा नहीं है, इसलिए वह व्यथित नहीं होता और न उसका क्षय ही होता है। यह महान् अजन्मा आत्मा हृदयस्थित आकाश में शयन करता है। वह सबको वश में रखने वाला, सबका शासक एवं अधिपति है। वह सर्वेश्वर है, भूतों का पति एवं पालक है।[28] ब्रह्म की इस प्रकृति के कारण ही उपनिषदों में 'न' अव्यय का इतना बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। कठोपनिषद् उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्धवत्, अनादि, अनन्त कहती है। बृहदारण्यकोपनिषद् उस अक्षर ब्रह्म का निर्वचन करती हुई कहती है कि वह अस्थूल, अनणु, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित है, वह न द्रव्य है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, असंग है, अरस है, अगंध है, नेत्र एवं श्रोत्र से अग्राह्य है, मन एवं वाणी का अविषय है, वह न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न अंतर है, न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता और उसे भी कोई नहीं खाता।[29] इसी प्रकार मौनावलंबन द्वारा भी ब्रह्म के स्वरूप को व्यक्त किया गया है। वाष्कलि ऋषि ने एक बार बाह्व ऋषि से ब्रह्म के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। इसके उत्तर में बाह्व ने मौन धारण कर लिया। बाष्कलि द्वारा तीन बार पुनः-पुनः पूछे जाने पर बाह्व

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ऋषि ने कहा कि मैं ब्रह्म की वास्तविक स्वरूप की ही शिक्षा दे रहा था जिसे तुम (वाष्कलि) समझ नहीं पा रहे थे। ब्रह्म की सर्वोत्तम परिभाषा मौन है, क्योंकि वाणी द्वारा वह बोधगम्य नहीं है। नेति-नेति द्वारा ही वह कथ्य है ।[30]

उपनिषदों में बताया गया है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही है। ऋग्वेद में भी आत्मा को कभी विश्व की आधारभूत चेतनशक्ति के रूप में तथा कभी मनुष्य के प्राण रूप में वर्णित किया गया है। उपनिषदें कहती हैं कि विश्व में व्याप्त चेतनाशक्ति ब्रह्म है तथा मनुष्य में जो चेतन शक्ति व्याप्त है वह आत्मा है। इस प्रकार उपनिषदें दोनों चेतन शक्तियों को एक ही मानती हैं । जिस किसी व्यक्ति को उस वर्णनातीत, अदृश्य, अनिर्वाच्य, अनाधार, विश्वातीत तथ्य की उपलब्धि हो जाती है, वह अभय हो जाता है, लेकिन जिसे आत्मा और परमात्मा में भेद की अनुभूति होती है वह संसार के सारे भय से भयग्रस्त रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म) अभिन्न है।[31]

उपनिषदों में आत्मा के स्वरूपान्वेषण का विपुल प्रयास दर्शनीय है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा शरीर के मरने पर भी स्वयं नहीं मरती (अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणों न हन्यते हन्यमाने शरीरे)। यह आत्मा विषयग्राही इन्द्रियों से परे हैं तथा हमारे मन, बुद्धि एवं प्राणों से भी पृथक है।[32] आत्मा असीम है तथा अपरिमित रूप से लघु एवं विशाल भी है। वह सर्वव्याप्त है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार आत्मा शाश्वत, नित्य, सर्वव्याप्त, सर्वव्यापक, सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अनश्वर है। वह संपूर्ण जीवों का आदि कारण है तथा उसे विवेकी जन ही प्राप्त कर सकते हैं। कठोपनिषद् कहती है कि अणु से भी अणुतर तथा महान् से भी महत्तर वह आत्मा जीवन की हृदयरूप गुहा में स्थित है (अणोरणीयान्-महतो महीयानात्मस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्)। माण्डूक्योपनिषद् में ओंकार (ॐ) को ही सब कुछ बताया गया है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान उसी ओंकार की व्याख्या है। इसके अतिरिक्त अन्य त्रिकालातीत वस्तु भी ओंकार ही है। इसी प्रकार आगे कहा गया है कि यह सब ब्रह्म ही है अर्थात् यह सब जो ओंकार मात्र कहा गया है ब्रह्म ही है। यह आत्मा ब्रह्म ही है। वही यह आत्मा अक्षर दृष्टि से ओंकार है........'सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारः।'[33]

औपनिषद ऋषि ब्रह्म को शुद्ध आत्मचेतना से अभिन्न मानते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म हृदय-गुहा में गुप्त तथा परमाकाश में न्यवसित है। ऐतेरेयोपनिषद् प्रज्ञान को ही ब्रह्म मानती है। इस प्रकार आत्मचेतना, प्रज्ञान और ब्रह्म एक ही है। भौतिक, दैविक एवं आत्मिक पद्धतियों के सर्वेक्षण द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि औपनिषद ऋषि परमसत्य को आत्मचेतना की दृढ़ नींव पर स्थापित करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में आत्मचेतना यथार्थ एवं शाश्वत है। आत्मचेतना से संपृक्त होकर ही ब्रह्म,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सत्ता और सत्य सत्तावान् होते हैं। आत्मचेतना की यह प्रतिष्ठा औपनिषद दार्शनिकों का वैशिष्ट्य है।[34] यह आत्मचेतना बुद्धि ज्ञान और अविश्वास का विषय नहीं है, प्रत्युत आत्मदर्शन का विषय है। वस्तुतः आत्मा अपरिहार्यतः अज्ञेय है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार यह अवाङ्मनोगोचर है। कठ और केन उपनिषदों में भी ऐसी ही बात कही गयी है।[35]

उपनिषदों में ब्रह्म के द्विविध पक्षों का वर्णन किया गया है– सविशेष या सगुण पक्ष तथा निर्विशेष या निर्गुण पक्ष। किसी विशेषण अथवा लक्षण से निर्विशेष ब्रह्म को लक्षित नहीं कर सकते, किसी चिह्न से वह चिह्नित नहीं हो सकता जिससे हम उस निर्विशेष ब्रह्म को पहचान सकें। साथ ही उसे धारण करने वाले किसी गुण का उल्लेख भी नहीं किया जा सकता। सविशेष ब्रह्म को हम गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों से विभूषित कर सकते हैं अथवा वह इससे संयुक्त रहता है जिससे हम उक्त स्वरूप को हृदयंगम कर सकें। इन दोनों स्वरूपों का सम्बन्ध भाव से है। इसीलिए उपनिषदों में इन दोनों भावों को स्पष्ट करने के लिए विशेष नाम दिये गये हैं। इस प्रकार निर्विशेष भाव को कहीं परब्रह्म कहा गया है और सविशेष भाव को कहीं अपरब्रह्म तथा कहीं शब्दब्रह्म कहा गया है। इसी प्रकार ब्रह्म के सम्बन्ध में दो प्रकार की, निर्विशेष लिंग एवं सविशेष लिंग श्रुतियां हैं। सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगंधः, सर्वरसः आदि श्रुतियाँ सविशेष लिंग का द्योतन करती हैं तथा अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम्, आदि श्रुतियां निर्विशेष लिंग का।[36]

सविशेष ब्रह्म को स्पष्ट करने के लिए पुलिंग शब्दों का प्रयोग किया गया है जबकि निर्विशेष ब्रह्म के लिए नुपंसक शब्द ही प्रयुक्त हैं। पर ब्रह्म के लिए अस्थूलम् आदि नपुंसक शब्द ही आये हैं। इसीलिए परब्रह्म को निर्दिष्ट करने के लिए तत् पद का प्रयोग किया गया है, 'सः' पद का नहीं । इस प्रकार का अंतर दिखाने का तात्पर्य यह कथमपि नहीं है कि 'तत्' पद द्वारा निर्दिष्ट वस्तु में वैषम्य है। ब्रह्म के इन दोनों पक्षों सविशेष एवं निर्विशेष में केवल भावगत अंतर ही देखा जा सकता है। इसमें वस्तुगत पार्थक्य संभव नहीं है। ये दोनों पक्ष एक ही वस्तु के द्योतक हैं । निर्गुण, निरूपाधि तथा सगुण सोपाधि एक ही ब्रह्मतत्व के प्रतिपादक पक्ष हैं, तभी तो उपनिषदों में एक साथ ही दोनों स्वरूपों का चित्रण किया गया है। मुंडकोपनिषद् के एक ही मंत्र में ब्रह्मतत्व के प्रतिपादक उभयलिंग शब्दों का प्रयोग किया गया है— "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णचक्षुश्रोतं तदपाणिपादम्" यहाँ निर्विशेष ब्रह्म की सूचना है। नित्यं विभुं- सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययंयद्- भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः— इन पुलिंग पदों में सविशेष ब्रह्म का संकेत किया गया है। अतः परमतत्व का रूप एक है, भले ही उसे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हम निर्गुण कहें अथवा सगुण। आचार्य रामानुज उपनिषदों में सगुण ब्रह्म का प्रतिपादन स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य उन्हें निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादक मानते हैं।[37]

उपनिषदों के अनुसार बुद्धि सत्य को ग्रहण करने में स्वयं समर्थ नहीं है। चरम सत्य का ऐसा वस्तुगत प्रस्तुतीकरण संभव नहीं है जिसे बुद्धि ग्रहण कर सके। इसीलिए कठोपनिषद कहती है कि आत्मा बुद्धि से महान है, बुद्धि से परे है—बुद्धेरात्मा महान्परः। केनोपनिषद् कहती है कि ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है उसी को ज्ञात है और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता। वस्तुतः वह जानने वालों का बिना जाना हुआ और न जानने वालों का जाना हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि दृश्य वस्तुओं के सदृश बुद्धि द्वारा ब्रह्म ज्ञेय नहीं है।[38] मुण्डकोपनिषद् में दो प्रकार की विद्याओं की चर्चा की गयी है—परा विद्या और अपराविद्या। इन्हें क्रमशः उच्चतर ज्ञान और निम्नतर ज्ञान कहा जा सकता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प निरुक्त, व्याकरण, छंद और ज्योतिष का ज्ञान अपरा विद्या के अन्तर्गत आता है। पराविद्या से मात्र अक्षर परमात्मा ही ज्ञेय है।[39] छान्दोग्योपनिषद् में आये नारद एवं सनत्कुमार के वार्तालाप में भी इसी प्रकार का पार्थक्य ज्ञानमार्ग एवं उपासनामार्ग के बीच किया गया है। सनत्कुमार के समीप नारद उपासना विज्ञान को समझने के लिए आते हैं । वे कहते हैं कि मैं शोक से परिपूर्ण रहता हूँ। अपरा विद्या का पूर्ण ज्ञान अर्जित कर लेने पर भी मैं शोकसमुद्र के उस पार जाने में असमर्थ हूँ अर्थात् इस प्रकार का ज्ञान शोकसमुद्र को पार कराने के लिए पर्याप्त नहीं है। नारद कहते हैं कि मैंने मात्र विभिन्न मंत्रों का अध्ययन किया है, पर मैं आत्मा को नहीं जान सका हूँ। मैंने आप जैसे से सुना है कि आत्मवेत्ता शोकसागर को प्राप्त कर लेता है—''तरति शोकमात्मविद्'' और मैं शोक करता हूँ। अतः मुझे शोकसागर से पार उतारिये। इस वार्तालाप से उच्चतर ज्ञान एवं निम्नतर ज्ञान का अन्तर स्पष्ट है। साथ ही इससे आत्मज्ञान की उच्चता सिद्ध होती है जिसके समक्ष सभी बौद्धिक ज्ञान मात्र मौखिक शब्दजाल प्रतीत होते हैं।[40] केनोपनिषद् कहती है कि शरीरधारण काल में ही आत्मानुभव अर्थात् आत्मज्ञान कर लेना श्रेयस्कर है। कठोपनिषद् में भी इसी प्रकार कहा गया है कि इस जीवन तक यदि आत्मा को अनुभूत नहीं कर लिया गया तो जन्म-मरणशील लोकों में बार-बार शरीर धारण करना पड़ेगा। बृहदारण्यकोपनिषद् भी कहती है कि इस जन्म में आत्मा को जान लेना अमृत है और उसे न जानना हानिकर है।[41]

जीवन की स्थिति तक ही आत्मा का साक्षात्कार कर लेने के लिए उपनिषदों ने अनेक प्रकार की योग्यताओं का निर्देश दिया है। जैसे अन्तर्दर्शन का जीवन, पापों से रेचन, नम्रता का जीवन, शान्ति, सत्य, तप, अन्तर्दृष्टि, बल एवं औचित्य का जीवन।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इनके पूर्ण होने पर ही आत्मसाक्षात्कार का होना संभव है। अन्तर्दर्शन के जीवन के अन्तर्गत बाह्य जगत् से दृष्टि हटाकर स्वयं में अन्तस् की ओर दृष्टि लगायी जाती है। इन विभिन्न योग्यतओं को अर्जित कर लेने के बाद एक योग्य आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता होती है जो आत्मसाक्षात्कार की उपलब्धि की प्रक्रिया को शुरू करे। उपनिषदों के अनेक उद्धरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि आचार्य से जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है अर्थात् सफल होती है। कठोपनिषद् भी इसे स्वीकार करती है। इस प्रकार स्वयं अपने बल पर आत्मज्ञान नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि आत्मज्ञान इतना सूक्ष्म और गुह्य है कि उसे कोई भी उपासक व्यक्तिगत प्रयास से उपलब्ध नहीं कर सकता। दूसरी बात इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है कि आचार्य या गुरु वही होना चाहिए जिसने परमात्मा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। जिस गुरु को इस स्थिति की उपलब्धि नहीं है उसकी शिक्षा फलवती नहीं होती।[42]

उपनिषदों की दृष्टि में मोक्ष या मुक्ति से तात्पर्य उस उच्चतम अवस्था से है जिसमें वैयक्तिक रागद्वेष का अवच्छेदन हो जाता है तथा स्वार्थपूर्ण पार्थक्य का परित्याग होता है, लेकिन यह एक मात्र शून्यता मृत्यु नहीं है। मुण्डक एवं प्रश्न उपनिषदों में इस सन्दर्भ में कहा गया है कि जिस प्रकार निरन्तर बढ़ती हुई नदियाँ अपने नामरूप को त्याग कर समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार विद्वान नामरूप से मुक्त होकर उस परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है जो सबसे परे है।[43] उपनिषदों में पुनर्जन्म से संबद्ध विचार भी देखने को मिलते हैं।

उपनिषदों में चार प्रकार के रहस्यवादी अनुभव विकीर्ण रूप में प्राप्त होते हैं, जो रूप, रंग, ध्वनि और प्रकार से संबंद्ध है। रहस्यवादी ध्यान की प्रक्रिया में इनका अनुभव करता है। ये अनुभव ब्रह्म-साक्षात्कार की भविष्यत् संभावना व्यक्त करते हैं और साथ ही इनसे यह भी प्रमाणित होता है कि रहस्यवादी ब्रह्मानुसंधान की लम्बी प्रक्रिया में पवित्रीकरण एवं ध्यान में रत रहा है। श्वेताश्वरतरोपनिषद् के दूसरे अध्याय में यह साहित्यिक सन्दर्भ आया है कि रहस्यवादी अपनी आध्यात्मिक यात्रा की देहली पर पहुँच कर विभिन्न प्रकार के रूपों और ज्योतियों का अनुभव करता है। योगाभ्यास आरंभ करने पर पहले अनुभूत होने वाले कुहरे, धूप, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत, स्फटिक मणि और चन्द्रमा के रूप क्रमशः ब्रह्म की अभिव्यक्ति करने वाले होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् भी अग्रसरण-शील रहस्यवादी के दृष्टिपथ में आने वाले विभिन्न रूपों का विवरण देती है, जैसे हल्दी में रंगे वस्त्र, लालरंग के कीड़े अग्नि की ज्वाला, एक श्वेत कमल तथा एक विद्युत की चमक के सदृश रूप। ऐसा प्रतीत होता है कि

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

औपनिषद रहस्यवादी रूपवादी अथवा प्रकाशवादी ही थे। श्रवण से सम्बद्ध बहुत कम संदर्भ उपनिषदों में प्राप्य हैं। बृहदारण्यक और मैत्री उपनिषदों में कहा गया है कि रहस्यवादी स्वयं में कुछ ध्वनियों को सुनता है। छान्दोग्योपनिषद् भी कहती है कि स्वयं में सत्य की उपस्थिति के संकेत की प्राप्ति मात्र अपने श्रवणों को बंद कर लेने से हो सकती है और बैल के डकारने या मेघों के गड़गड़ाने या जलती अग्नि की ध्वनि के समान ध्वनियों को सुनने के योग्य होने से भी उनकी प्राप्ति हो सकती है। जैसे ऊपर कह चुके हैं, इस प्रकार का ध्वनि श्रवण आदि स्वयं में ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं है, बल्कि उसका पूर्वाभास है। छान्दोग्योपनिषद् कहती है कि रहस्यवादी के समक्ष न तो सूर्योदय होता है और न सूर्यास्त होता है। इसी स्वर में श्वेताश्वरतरोपनिषद् भी कहती है कि जब रहस्यवादी के समक्ष न तो दिन रहता है और न रात रहती है, जब न तो सत् रहता है और न असत् ही रहता है, उस समय मात्र ब्रह्म की स्थिति रहती है। इससे ब्रह्म की सर्वातीतता, सर्वव्यापकता का द्योतन होता है।[44]

ऊपर रहस्वादी अनुभव की जिन स्थितियों का विवेचन हुआ है वे आत्मसाक्षात्कार के पूर्वभास का द्योतन तो करती हैं, लेकिन वे उसकी सर्वोच्च स्थिति को व्यक्त नहीं करतीं। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार आत्मा अर्थात् ब्रह्म की कृपा जिस पर होगी वही उसका साक्षात्कार कर सकता है । ब्रह्म के चाहने पर ही व्यक्ति-आत्मा उसका साक्षात्कार कर सकती है। उसकी कृपा से ही छान्दोग्योपनिषद् के हिरण्यमय पुरुष की प्राप्ति हो सकती है। इस स्थिति के आने पर ही, श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार, व्यक्ति आत्मा आत्मभाव से दीपक के समान प्रकाशस्वरूप ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार करती है। उस समय उस अजन्मा, निश्चल और समस्त तत्वों से विशुद्ध देव को जानकर वह सम्पूर्ण बंधनों से मुक्त हो जाती है। इस तथ्य को मैत्री उपनिषद् में मैत्री ऋषि ने और अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने उपनिषदों के सर्वोच्च रहस्य को अपने शिष्यों को प्रदान कर दिया और कहा कि आध्यात्मिक अनुभव के शिखर पर रहस्यवादी अपने स्वयं के अंतस् से निकलते हुए परम प्रकाश की एक बाढ़ में अपने निज स्वरूप को देखता है जो वस्तुतः अमर और निर्भय आत्मा के साक्षात्कार का निर्माण करता है।[45]

उपनिषदें ऐसे मनोवैज्ञानिक एवं अन्य प्रभावों का भी विवेचन करती हैं जो ब्रह्म साक्षात्कार द्वारा पूर्ण रहस्यवादी पर उत्पन्न होते हैं। बृहदारण्यक के अनुसार आत्मसाक्षात्कार होने पर सभी शारीरिक कामनाएं शीघ्र ही समाप्त हो जाती हैं। दूसरे, मुण्डकोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाने पर रहस्यवादी के सारे संशय दूर हो जाते हैं, कर्मक्षीण हो जाते हैं । तीसरे रहस्यवादी में आत्मसाक्षात्कार से पूर्व के शक्ति-अभाव और उसके बाद की शक्ति प्राप्ति में महान विरोध होता है। आत्मसाक्षात्कार होने

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पर इससे उत्पन्न शोक दूर हो जाता है। चौथे, तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार यदि रहस्यवादी को असीम आनंद की प्राप्ति होती है तो बृहदारण्यक के अनुसार उसे पति-पत्नी के अलिंगन के समान आनंद की प्राप्ति होती है। पाँचवें, तैत्तिरीयोपनिषद् कहती है कि ब्रह्म साक्षात्कार हो जाने पर रहस्यवादी अभय-स्थिति को प्राप्त कर लेता है। अंत में छांदोग्योपनिषद् के अनुसार आत्मतत्व की उपलब्धि कर लेने पर रहस्यवादी सभी कामनाओं, लक्ष्यों की प्राप्ति कर लेता है। इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेने पर रहस्यवादी सभी शारीरिक इच्छाओं से मुक्त, संशयरहित, असीमशक्ति-सम्पन्न, अनन्त आनंद से परिपूर्ण, निर्भय और सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने वाला हो जाता है।[46]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रहस्यवादी की दशा ब्रह्मोपलब्धि कर लेने पर सर्वमय हो जाती है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार सारा संसार उसे ब्रह्ममय दिखायी देने लगता है। वह ब्रह्ममय हो जाता है। उसे सर्वत्र उसी के दर्शन होते हैं। उसके लिए किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं रह ज़ाती है। वह तृप्त हो जाता है।[47]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि उपनिषदों के मूल स्वर रहस्यवादी हैं। वहाँ वास्तविक रहस्यवादी चिंतन के दर्शन होते हैं। औपनिषद् ऋषि अखिल विश्व के चरम सत्य को ढूढ़ने की प्रक्रिया में निरन्तर लीन रहते हुए अंततोगत्वा सफल होते हैं । आत्मा ही वह मूल तत्व है जिससे सबका निर्माण हुआ है। वस्तुतः आत्मा और ब्रह्म अभिन्न है—अयमात्माब्रह्म। इस आत्मा के स्वरूप निर्धारण में उपनिषदें नेति-नेति का सहारा लेती हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् नेति-नेति के माध्यम से ही ब्रह्म को अभिव्यक्त करने में सफल होती है—स एष नेति नेत्यात्मा। उपनिषदों में ब्रह्म के द्विविध पक्षों का चित्रण किया गया है—सगुण या सविशेष तथा निर्गुण या निर्विशेष। निर्गुण ब्रह्म किसी विशेषण से विशिष्ट नहीं हो सकता, किसी चिह्न से चिह्नित नहीं हो सकता। सविशेष ब्रह्म को हम किसी गुण, चिह्न, विशेषण आदि से विभूषित कर सकते हैं। इन दोनों पक्षों में कोई अंतर नहीं है। निर्गुण, निरुपाधि और सगुण, सोपाधि एक ही ब्रह्मतत्व के प्रतिपादक पक्ष हैं। इनमें मात्र भावगत अंतर देखा जा सकता है। उपनिषदों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी विवेचित हुआ है। व्यक्ति अपनी कामनाओं के अनुसार कर्म करता है, और जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है। उस लोक में पुण्य फल को भोगकर पुनः उसे इस लोक में कर्म करने के लिए आना पड़ता है । लेकिन जो अकाम, निष्काम, आत्मकाम, आप्तकाम होते हैं उनके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता है। वे ब्रह्म ही होकर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। वस्तुतः आत्मानुभव बहुत बड़ी चीज है। उपनिषदें शरीर-धारण-काल में ही आत्मज्ञान उपलब्ध करने की बात करती हैं। बृहदारण्यक कहती है कि इस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जन्म में आत्मा को जान लेना अमृत है और उसे न जानना हानिकर है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा का साक्षात्कार कर लेने वाला व्यक्ति रहस्यवादी कहलाता है जो रागद्वेषादि से परे होता है। उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो गयी रहती हैं। वह आप्तकाम एवं आत्मकाम हो जाता है। वह संशय एवं शोक रहित तथा असीम शक्ति संपन्न हो जाता है। वह अनन्त आनन्द से पूर्ण, निर्भय तथा सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने वाला हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में रहस्यवाद

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का सारतम अंश है। प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र) में गीता को द्वितीय स्थान दिया गया है। अध्यात्मतत्व के निरूपणार्थ भिन्न-भिन्न मतों की स्थापना गीता के समय तक हो चुकी थी। गीता में उन सबका उपयोग कर एक परम रमणीय साधन मार्ग की व्यवस्था की गयी है, जो विभिन्न आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले प्राणियों के लिए भी नितान्त उपयोगी है। इसीलिए गीता को कल्पवृक्ष और कामधेनु से उपमित किया गया है। गीता को योगशास्त्र कहा जाता है। योग के अनेक अर्थ हैं जिनमें एक अर्थ है—व्यवहार, सांख्य का अर्थ है—तत्वज्ञान और योग का अर्थ व्यवहार या कर्ममार्ग है। गीता के प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे लिखा गया है जिसका तात्पर्य है गीता के मुख्य विषय ब्रह्म विद्या पर प्रतिष्ठित व्यवहार का प्रतिपादन।[48]

भगवद्गीता को संपूर्ण उपनिषदों का सारतत्व कहने में एक तात्पर्य विशेष है। सभी उपनिषदें गौ हैं और गोपालनन्दन श्रीकृष्ण स्वयं दोग्धा हैं। सुधी अर्जुन भोक्ता वत्स हैं। इस प्रकार जिस दुग्ध का दोहन किया गया है वही श्रेष्ठ गीतामृत है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥[49]

इस श्लोक द्वारा गीता के वास्तविक स्वरूप का पता चलता है। प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में इसे श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् कहा गया है— "श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे..........।" इस प्रकार यह गीतारूपी उपनिषद् ब्रह्मविद्या एवं योगशास्त्र विषयक महत् ग्रंथ श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद रूप में प्रस्तुत किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता की पुष्पिका से स्पष्ट होता है कि गीताअधिविद्या और नीतिशास्त्र, ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र, वास्तविकता (ब्रह्म) का विज्ञान और वास्तविकता (ब्रह्म) के साथ संयोग की कला, दोनों ही है। वस्तुतः आत्मा के सत्य का संधान मात्र वे ही लोग कर सकते हैं जो कठोर अनुशासन द्वारा उसे ग्रहण करने के लिए स्वयं को

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तैयार कर लेते हैं। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, कहा जाता है कि भगवद्गीता का मूलतत्व उपनिषदों से ही ग्रहण किया गया है।[50] भगवद्गीता आत्मिक जीवन की एकता पर बल देती है। उक्त ऐक्य को दार्शनिक ज्ञान, शक्तिपूर्ण प्रेम अथवा श्रमपूर्ण कर्म के रूप में विभक्त नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार लक्ष्य के अनुसंधान के समय अथवा लक्ष्य की उपलब्धि के उपरान्त भी कर्म, ज्ञान और भक्ति एक-दूसरे के पूरक के रूप में ग्रहण की जाती हैं। योग, कर्म, ज्ञान और भक्ति, यों विभिन्न साधन मार्ग हैं जिनके द्वारा उस एक लक्ष्य की ही प्राप्ति होती है, फिर भी ये साधन मार्ग एक-दूसरे से संबद्ध हैं। ज्ञान को एक सशरीर मनुष्य के रूप में कल्पित किया गया है जिसका शरीर जानकारी है और प्रेम ही जिसका हृदय है। योग मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने वाला प्राचीन मार्ग है। ज्ञान और ध्यान, प्रेम और सेवा योग की विधि अवस्थाएं हैं। वस्तुतः गीता की दृष्टि में आध्यात्मिक स्वतंत्रता की दशा हमारी सम्पूर्ण प्रकृति को अमर विधान और परमात्मा की शक्ति में रूपान्तरित कर देने में निहित है। परमात्मा के साथ समानता (साधर्म्य) पर जोर दिया गया है, एकरूपता या तादात्म्य (सायुज्य) पर नहीं।[51]

भगवद्गीता पर अपनी टीका में रामानुजाचार्य ने एक प्रकार के वैयक्तिक रहस्यवाद को विकसित किया है। परमात्मा मानवीय आत्मा के सुगुप्त स्थान में निवास करता है, लेकिन आत्मा (मानवीय) को जब मुक्ति-दायक ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तभी वह परमात्मा को पहचान पाती है। आत्मा द्वारा परमात्मा की सर्वात्मना सेवा करने पर ही उक्त ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है। वस्तुतः जिस पर दैवी कृपा होती है वही परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है।[52] भगवद्गीता में अध्यात्म तत्व का विवेचन बड़ी ही प्रांजल भाषा में स्थान-स्थान पर किया गया है, परन्तु उन सबके समन्वित रूप पर एक निश्चित सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। इसीलिए शंकराचार्य ने गीताभाष्य के उपोद्धात में गीता को दुर्विज्ञेयार्थ बतलाया है। विभिन्न अध्यायों में चरमतत्व के निर्देश किये गये हैं, परन्तु आठवें और तेरहवें अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन सुलभ होता है। भगवद्गीता में ब्रह्म के उभयरूपों-सगुण एवं निर्गुण का वर्णन है, लेकिन गीता के अनुसार दोनों एक ही अभिन्न तत्व हैं अर्थात् उन दोनों में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं हैं।[53] गीता के तेरहवें अध्याय में कहा गया है कि ब्रह्म सभी इन्द्रियों से रहित है, (सर्वेन्द्रियविवर्जित), फिर भी वह सभी इन्द्रियों के गुणों से युक्त है। वह अनासक्त है, फिर भी सबको संभाले हुए है। वह गुणों से रहित है अर्थात् निर्गुण है, फिर भी सभी गुणों का भोक्ता है। इस प्रकार वह सगुण और निर्गुण दोनों है।[54] ब्रह्म सत् (अस्तित्वमान) है और असत् (अस्तित्वरहित) भी है तथा सदसत् से परे

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी है (सदसत् तत्परं यत्)। इतना ही नहीं, पर ब्रह्म को न तो सत् कहा जाता है और न असत् ही– अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। ब्रह्म भूतों के भीतर है और बाहर भी है। वह अचर (अचल) और चर (चलायमान) भी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म है इतना सूक्ष्म है कि उसे जाना नहीं जा सकता। वह बहुत दूर होकर भी निकटस्थ है।[55] उस ब्रह्म से ही संपूर्ण प्राणियों का जन्म हुआ है। वही जगत् का प्रभाव और विनाश है। वस्तुतः वह सभी भूतों का सनातन बीज है। वह समस्त प्राणियों में निवास करता है। जैसे धागे में मणियों का समूह पिरोया रहता है, उसी तरह भगवान् में संपूर्ण संसार ओत-प्रोत हैं, गूँथा हुआ है। उसके हाथ-पैर सर्वत्र हैं, उसकी आँखें, सिर और मुख सब ओर है तथा सब दिशाओं में उसके कान हैं। वह सबको आवृत्त करके इस विश्व में स्थित है—

सर्वतः पाणिपादं सत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥[56]

वह परमात्मा सभी भावों का आदि कारण है अर्थात् सात्विक राजस और तामस ये सभी भाव उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं। वस्तुतः उन भावों में वह स्थित नहीं है, बल्कि उसी में सभी भाव स्थित हैं।[57] इस प्रकार परमात्मा सगुण और निर्गुण दोनों है। लेकिन दोनों में कोई विरोध नहीं है। परमात्मा तो सभी विरोधों से परे हैं।

भगवद्गीता में भगवान् के दो प्रकार के भावों की सत्ता बतलायी गयी है– अपर भाव और परभाव। ईश्वर एक ही अंश से योगमाया से युक्त रहता है। ईश्वर उसी एक अंश से संसार में अभिव्यक्त होता है तथा उसी अंश से जगत् को व्याप्त कर स्थित होता है। भगवान् का यही अपर भाव अथवा विश्वानुग रूप है। लेकिन भगवान् इस जगन्मात्र से ही सीमित न होकर उसका अतिक्रमण भी करते हैं। यही उनका वास्तविक रूप है। इस अनुत्तम एवं अव्यय रूप को पर भाव अथवा विश्वातिग रूप कहते हैं। भगवद्गीता की यह कल्पना ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के अनुरूप है। पुरुषसूक्त में कहा गया है—यह जगत् पुरुष का केवल पादमात्र है, उसके अमृत तीन पाद आकाश में स्थित हैं—पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि। इसी तरह ब्रह्म के उभय भाव भी हैं। गीता के दशवें अध्याय में कहा गया है कि भगवान् घट-घट व्यापी हैं। ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमें उनका अंश नहीं है अर्थात् प्रत्येक वस्तु में वे स्थित हैं। फिर भी विभूति-मान शोभायुक्त एवं ऊर्जित वस्तुओं में भगवत्शक्ति का प्रकटीकरण अपेक्षाकृत अधिक दिखायी देता है—

यद्यद् विभूतिमत् सत्यं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम्॥[58]

गीता में भगवान् की दो प्रकार की प्रकृतियों का वर्णन किया गया है । ये प्रकृतियां हैं—अपरा तथा परा। क्षेत्र तथा क्षर पुरुष अपरा प्रकृति का ही दूसरा नाम है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परा प्रकृति का दूसरा नाम क्षेत्रज्ञ तथा अक्षर पुरुष है। परा प्रकृति से तात्पर्य जीव से है तथा अपरा प्रकृति से अभिप्राय जीवेतर समस्त पदार्थों से है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—यही अष्टधा भिन्ना अपरा प्रकृति है। परमेश्वर जो सम्पूर्ण विश्व का स्वामी है, के अन्दर चेतन आत्माएँ (क्षेत्रज्ञ) और अचेतन प्रकृति (क्षेत्र) हैं । ये दोनों उनके उच्चत्तर (परा) और निम्नतर (अपरा) पक्ष समझे जाते हैं। ईश्वर की परा प्रकृति से ही यह जगत् धारण किया जाता है। परमात्मा के सार्वभौम अस्तित्व के अन्तर्गत उनकी निम्नतर प्रकृति में अचेतना की संपूर्णता और उनकी उच्चतर प्रकृति में चेतना की संपूर्णता सम्मिलित है। आत्मा और शरीर, क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र ये प्रत्येक व्यक्ति के दो पहलू हैं। ये दोनों ईश्वर की प्रकृतियां हैं, ईश्वर इन दोनों से ऊपर हैं।[59] जीव चैतन्यात्मक होने के कारण परमेश्वर की परा प्रकृति (उत्कृष्ट विभूति) है। उसे ही क्षेत्रज्ञ कहा गया है। भोगायतन होने से अथवा किये गये कर्मों का फ़ल धारण करने से शरीर को क्षेत्र (खेत) कहा गया है। क्षेत्र का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है। आत्मा को ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं।[60]

भगवद्गीता के दूसरे अध्याय में क्षेत्रज्ञ आत्मा का विशद वर्णन किया गया है। आत्मा कभी जन्म नहीं लेती और न कभी वह मरती ही हैं। एक बार अस्तित्व में आने के उपरान्त उसका अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता । (आत्मा को अपना अस्तित्व परमात्मा से सुलभ होता है)। वह आत्मा अजन्मा, शाश्वत, नित्य और प्राचीन है तथा इस शरीर के नष्ट होने पर भी वह आत्मा मरती नहीं है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥[61]

अतः जो व्यक्ति यह सोचता है कि वह मरती है और जो यह सोचता है कि वह मारी जाती है, वस्तुतः वे दोनों ही सत्य से अपरिचित हैं। वह आत्मा न तो मरती है और न मारी जाती है। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर नवीन वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार आत्मा जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़कर नवीन शरीर को ग्रहण करती है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥[62]

इस आत्मा के सम्बन्ध में कहा गया है—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

इस प्रकार यह आत्मा विकार रहित है। वह अच्छेद्य, अदाह्य अक्लेद्य तथा अशोष्य है। वह नित्य सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।[63]

गीता में जीव को परमेश्वर का एक सनातन अंश बताया गया है। परमेश्वर अंशी है और जीव उसका अंश। इस प्रकार जीव नाना होकर भी एक ही है। गीता कहती है कि जैसे एक सूर्य संपूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ (क्षेत्र का स्वामी, क्षेत्री) सभी क्षेत्र को (शरीर को) प्रकाशित करता है।[64] भगवान् ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारण हैं। इसीलिए गीता भगवान् को सभी भुतों का सनातन बीज स्वीकार करती है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि मैं ही लक्ष्य हूँ एवं भरणपोषण करने वाला हूँ। मैं ही स्वामी, साक्षी तथा निवास स्थान हूँ। मैं ही शरण हूँ, मैं ही मित्र हूँ। मैं ही उत्पत्ति और विनाश हूँ। मैं ही स्थिति हूँ, मैं ही विश्राम का स्थान हूँ और अव्यय बीज हूँ। इस प्रकार जगत् भगवान् से ही उत्पन्न होकर पुनः भगवान् में ही विलीन हो जाता है।[65]

भगवद्गीता में श्रीकृष्ण को परब्रह्म से अभिन्न माना गया है। वे पुरुषोत्तम हैं। भगवद्गीता का यह पुरुषोत्तम तत्व परम रहस्य और महान् आध्यात्मिक तत्व माना जाता है। गीता में अव्यक्त और अक्षर का प्रयोग व्यक्ताव्यक्त से परे, प्रकृति पुरुष के ऊपर एक विशिष्ट तत्व के लिए किया गया है। अक्षर ब्रह्म परब्रह्म ही वह तत्व है जिसकी प्रकृति (अव्यक्त) निकृष्ट विभूति हैं। गीता में अचला प्रकृति को क्षर कहा गया है और इसी तरह कूटस्थ अधिकारी पुरुष को अक्षर कहा गया है। इस अक्षर ब्रह्म से भी उत्तम है—पुरुषोत्तम। जड़ जगत् (अव्यक्त प्रकृति) से भिन्न चेतन ब्रह्म (सचेतन तत्व) को अक्षर ब्रह्म कहते हैं। जो ईश्वर इस जगत् को व्याप्त करता हुआ भी इससे परे है, जो संसार के प्रत्येक पदार्थ में स्थित तथा साथ-साथ उससे पृथक भी है, जो विश्वानुग होकर विश्वाजीत भी है, वही पुरुषोत्तम है।[66] मानवीय प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। उक्त भिन्नता को ध्यान में रखकर चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शास्त्रों ने त्रिविध उपायों की व्यवस्था की है। जो साधक चिन्तनप्रिय होता है वह ज्ञान मार्ग से सांसारिक विषयों में अभिरूचि रखने वाला साधक कर्मयोग से तथा अनुरागादि मानसिक वृत्तियों का विशेष विकास करने वाला साधक भक्तिमार्ग से चरम लक्ष्य की उपलब्धि कर सकता है। भगवद्गीता में कहा गया है कि उस समय भारत में चार साधनमार्ग प्रचलित थे—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। गीता में इन चारों मार्गों का समन्वय प्रस्तुत किया गया है जो प्रत्येक तत्वजिज्ञासु के लिए चरमलक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होता है। यह समन्वय गीता की अपनी प्रमुख विशिष्टता है।[67]

डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है कि गीता हमारे सम्मुख एक सर्वांगसंपूर्ण योगशास्त्र प्रस्तुत करती है, जो विशाल, लचकीला और अनेक पहलुओं वाला है, जिसमें आत्मा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के विकास और ब्रह्म तक पहुँचने के विविध दौर सम्मिलित हैं। विभिन्न प्रकार के योग उस आन्तरिक अनुशासन के विशिष्ट प्रयोग हैं, जो आत्मा की स्वतंत्रता और एकता के एक नये ज्ञान और मनुष्य जाति के एक नये अर्थ तक ले जाता है। इस अनुशासन से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु योग कहलाती है, जैसे ज्ञानयोग अर्थात् ज्ञान का मार्ग, भक्तियोग अर्थात् भक्ति का मार्ग या कर्मयोग अर्थात् कर्म का मार्ग।[68] जिन-जिन आचार्यों ने गीता पर टीकाएँ लिखी हैं उनमें से कई आचार्य भक्ति साधन पर जोर देते हैं। रामानुजाचार्य ने स्वीकार किया है कि गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का वर्णन है, लेकिन गीता का मुख्य बल भक्ति पर है। इसी प्रकार माध्व का मत है कि गीता में भक्ति पद्धति पर बल दिया गया है। निम्बार्क की रचनाओं का भी मुख्य विषय है—भगवान् की भक्ति। बल्लभाचार्य की दृष्टि में भी भगवान् की भक्ति ही मुक्ति पाने का सबसे महत्वपूर्ण साधन है।[69] शंकराचार्य के अनुसार निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन ही गीता का मुख्य प्रयोजन है। उक्त प्रयोजन की सिद्धि के लिए ज्ञान ही उपाय है। दूसरी ओर लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य में प्रवृत्तिमार्ग को गीता का लक्ष्य बतलाया है। उन्होंने कर्मयोग को उक्त लक्ष्य का साधन बतलाया है।[70] इस प्रकार गीता में कर्म, ज्ञान, भक्ति और योग की समन्वित धारा प्रवाहित हो रही है। यह समन्वय गीता की अपनी विशेषता है।

गीता में कर्म योग

भगवद्गीता से पूर्व कर्म के महत्व को स्वीकार किया गया है। जैमिनि के अनुसार वेद का मुख्य प्रयोजन कर्म का प्रतिपादन है। यहाँ कर्म का अभिप्राय है यज्ञ। यज्ञ का तात्पर्य है किसी विशेष देवता के लिए हविष्यादि द्रव्य का समर्पण करना। गीता कर्म के महत्व को स्वीकार करती है, लेकिन यज्ञ का यह संकुचित अर्थ उसे स्वीकार नहीं है। गीता के तीसरे अध्याय में यज्ञ-चक्र की उपायदेयता को स्वीकार किया गया है। इस चक्र में अन्न सेलेकर ब्रह्म तक सभी पदार्थ एक साथ अनुस्यूत हैं। यज्ञ का प्रयोग गीता में एक विस्तृत अर्थ में किया गया है जिसके अनुसार निःस्वार्थ बुद्धि से किये गये परमात्मा की ओर ले जाने वाले समस्त कर्म यज्ञ कहलाते हैं। यज्ञ भी कई प्रकार के होते हैं—द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञ आदि।[71]

गीता कहती है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।[72]

अर्थात् कोई भी व्यक्ति क्षण भर के लिए भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों के कारण प्रत्येक व्यक्ति को विवश होकर कर्म करना ही पड़ता है। वस्तुतः इस जीवन यात्रा का प्रधान आधार कर्म ही है। इस कर्मचक्र से कभी

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी कोई भाग नहीं सकता है। लेकिन गीता के अनुसार फलाकांक्षा से रहित होकर किये गये कर्म कभी भी बंधन में नहीं डाल सकते। गीता कहती है—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥

कर्मफल के प्रति आसक्ति को त्याग, सदा तृप्त रहकर, बिना किसी पर आश्रित हुए सदा कर्म में लगे रहना चाहिए। इस प्रकार कर्म में लगा हुआ व्यक्ति वस्तुतः कुछ नहीं करता अर्थात् संसार की दृष्टि में तो वह कर्म करता हुआ प्रतीत होता है, लेकिन वैसे वह कुछ नहीं करता है। जो पुरुष कोई इच्छा न रखते हुए, अपने चित्त और आत्मा को वश में रखते हुए, सब प्रकार के वैभव को त्यागकर केवल शरीर द्वारा कर्म करता है, उसे कोई दोष नहीं लगता।[73]

फलासक्तियुक्त कर्म कर्ता को बंधन में डालने वाले होते हैं। सभी कर्मों को कुशलतापूर्वक संपादित करने का नाम योग है—योगः कर्मसु कौशलम्। अतः कर्म का इस प्रकार कुशलता पूर्वक संपादन करना कि वे बंधन उत्पन्न न करें, योग कहलाता है। कर्मसंन्यास और कर्मयोग (निःस्वार्थ रूप से कर्मसंपादन), दोनों ही आत्मा की मुक्ति की ओर ले जाने वाले हैं। परन्तु इन दोनों में, कर्मों को त्याग देने (कर्मसंन्यास) की अपेक्षा कर्मों का निःस्वार्थ रूप से करना अधिक अच्छा है। इससे स्पष्ट है कि कर्मयोग कर्मसंन्यास से श्रेष्ठ है।[74] कहा गया है कि साधारण कर्मवाद को कर्मयोग में प्रवर्तित करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता होती है—(क) फलाकांक्षा का वर्जन, (ख) कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग, (ग) ईश्वर के प्रति समर्पण। गीता के अनुसार कर्म करना ही मनुष्य का अधिकार है, फल की इच्छा करना उसके अधिकार में नहीं है। गीता कहती है कि फल की आकांक्षा से कर्म मत करो तथा साथ ही अकर्म (कर्म के करने में) में कभी भी इच्छा नहीं होनी चाहिए—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूमा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

यही कर्मयोग का महामंत्र है। इस श्लोक के चारों पदों को कर्मयोग की चतुःसूत्री के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। अतः आसक्तिरहित होकर कर्म करने में किसी भी प्रकार की बुराई का भय नहीं हो सकता। वस्तुतः गीता की स्पष्ट मान्यता है कि मानव को कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए, प्रत्युत कर्म के फल का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार कुछ पंडितजन काम्य कर्म के त्याग को संन्यास कहते हैं, लेकिन विचक्षण पंडितों के अनुसार सर्वकर्मों के फल का त्याग ही वास्तविक त्याग है। इस प्रकार सभी कर्मों में आसक्ति और फल का परित्याग कर उनका संपादन करना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

चाहिए।[75] दूसरे सोपान में कर्ता को कर्म करने में कर्तृत्वाभिमान का त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि हम प्रकृति के त्रिगुणों के वशीभूत हो कर्म करते ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में कर्म करने का अभिमान नहीं हो सकता। तीसरे सोपान में सभी कार्यों का संपादन भगवदर्पण—बुद्धि से करना चाहिए। कर्मफल भगवान् को समर्पित कर देना चाहिए। फलतः व्यक्ति कर्मबन्धन से अर्थात् शुभाशुभ फलों से मुक्त हो जायगा। इस प्रकार इन तीनों सोपानों द्वारा कर्मयोग की निष्पत्ति होती है।[76]

डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने भगवद्गीता के सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि की है। उन्होंने लिखा है—"गीता के सिद्धान्त के अनुसार अनासक्त होकर कर्म करने वाले व्यक्ति को दोष नहीं लगता। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि शुभ एवं अशुभ कर्म का आधार बाह्य क्रिया नहीं है अपितु अन्तरवृत्ति है। यदि सुख अथवा स्वार्थपरता की भावना नहीं हो तो कर्ता के लिए कर्म बंधक नहीं हो सकता, क्योंकि आसक्ति एवं अहंभाव के कारण ही कर्ता को कर्तापन का भाव होता है जिसके परिणामस्वरूप वह शुभाशुभ फल भोगता है। इस दृष्टिकोण से नैतिकता आत्मगत समझी जाती है। गीता का विशिष्ट लक्षण यह है कि वह कर्ता का कर्म से सब सम्बन्धों का विच्छेद करके बाह्य कर्मों को नैतिकता के प्रभाव से परे ले जाती है।"[77] अंत में हम कह सकते हैं कि कर्म तथा फल के सम्बन्ध में चार सिद्धान्त बनाये जा सकते हैं—(क) आलस्यवश फलों की इच्छा न रखना और न उसके लिए कर्म करना। यह मार्ग निकृष्ट, निन्द्य तथा हेय है। (ख) फलाकांक्षा रखना तथा तदुचित कर्मों का निष्पादन करना। यह सकाम मार्ग है जिसमें कर्म बन्धन उत्पन्न करने वाले होते हैं। (ग) फल की अनावश्यकता के कारण आकांक्षा न रखना तथा कर्मों का संपादन न करना। यह निष्काम मार्ग है। लेकिन इसमें लोकयात्रा का भलीभाँति निर्वाह नहीं हो सकता। (घ) फल की आकांक्षा न रखना, तथापि कर्मों का संपादन करना। यही गीता के अनुसार कर्मयोग हैं जिसमें द्वितीय और तृतीय मतों का समन्वय किया गया है।[78] इस प्रकार अनासक्त होकर फल की कामना न करते हुए तथा सभी कर्मों एवं उनके फलों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर करणीय कर्मों का संपादन करना ही गीता-सम्मत कर्मयोग है।

गीता में ज्ञानयोग

पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए तीन विभिन्न मार्ग बताये गये हैं—वास्तविकता का ज्ञान, भगवान् की उपासना और भक्ति तथा अपने संकल्प को दिव्य प्रयोजन के अधीन कर देना (कर्म)। इससे स्पष्ट है कि ज्ञान, भक्ति और कर्म साधना द्वारा परमतत्व की उपलब्धि की जा सकती है। इन तीनों मार्गों पर क्रमशः अलग-अलग सैद्धान्तिक, भावनात्मक और व्यावहारिक पक्ष पर बल दिया गया है। इनसे संबद्ध

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

साधक भी विभिन्न प्रकार के होते हैं—चिन्तनशील, भावुक और सक्रिय। परन्तु इनका अलग-अलग अस्तित्व नहीं होता। ये परस्पर संबद्ध होते हैं। वस्तुतः अंत में जाकर ज्ञान, भक्ति और कर्म परस्पर मिल जाते हैं।[79] इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म परस्परावलंबी हैं। कर्मयोगी होने के लिए ज्ञान और भक्ति के पुट की नितान्त आवश्यकता होती है। ज्ञानी पुरुष ही कर्म के कर्तृत्वाभिमान का परित्याग कर सकता है तथा भगवान् में सर्व कर्मों का समर्पण भक्ति द्वारा ही संभव है। अतः भगवद्गीता ज्ञानमार्ग की महिमा को स्वीकार करती है जो अन्य ज्ञानमार्गों से विलक्षण है। गीतासम्मतज्ञान आत्मा की एकता का संपूर्ण अनुभव है। गीता के ज्ञानमार्ग की दो दिशाएँ बतायी गयी हैं—पहली दिशा है सर्वभूतों में आत्मा का दर्शन (सर्वभूतस्थमात्मानम्) जिसमें सर्वभूत आधार है और आत्मा आधेय है। गीतासम्मत ज्ञानमार्ग की दूसरी दिशा है—आत्मा में सर्वभूतों का दर्शन (सर्वभूतानि चात्मनि) जिसमें आत्मा आधार है और सर्वभूत आधेय हैं। गीता के ज्ञान मार्ग की ये दोनों दिशाएँ एक दूसरे की पूरक हैं। ऐसे द्रष्टा पुरुष को समदर्शन कहा गया है । उपर्युक्त ज्ञान मार्ग की प्रथम दिशा का दृष्टान्त संसार में सर्वत्र सुलभ होता है तथा दूसरी दिशा का दृष्टान्त भगवान् के देवदुर्लभ विराट् रूप में दिखायी देता है। अर्जुन ने दिव्य चक्षु से एक विराट् आत्मा के भीतर एक स्थान पर संम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखा। इस विराट् दर्शन का रहस्य 'एकस्थं कृत्स्नंजगत्' के प्रत्यक्ष दिखलाने में निहित है।[80] इस प्रकार गीता के ग्यारहवें अध्याय में वर्णित भगवान् के विराट् स्वरूप का अर्जुन द्वारा दर्शन रहस्यात्मक प्रत्यक्ष की चरम सीमा है। उन्हें भगवान् के अनंत रूपों-स्रष्टा, पालक एवं संहारक के दर्शन होते हैं। ज्ञानमार्ग में व्याख्यात इस दर्शन की दोनों दिशाओं में से द्वितीय दिशा तांत्रिक योगपरक रहस्यवादियों के पिण्डब्रह्माण्डवाद के बहुत निकट और समान है जिसमें वह ब्रह्माण्ड के सब कुछ को शरीर में ही समझ सबका दर्शन शरीर में ही करता है। यह भी एक प्रकार का एकात्म दर्शन है जिसमें वह अभेदभाव की स्थापना करता है । दूसरे शब्दों में यही समदर्शन है जो सभी प्रकार और कोटि के रहस्य-दर्शियों में रूप, स्थिति, अनुपात एवं रुचि के भेद से किसी न किसी रूप में अवश्य ही दिखायी पड़ता है।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि जो मुझे सब स्थानों पर देखता है और जो सब वस्तुओं को मुझमें देखता है, उससे मैं कभी दूर नहीं होता और न वह ही कभी मुझसे दूर होता है। गीता के इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है—"इन सुकुमार और प्रभावशाली शब्दों में कि 'न मैं उससे दूर होता हूँ और न वह ही कभी मुझसे दूर होता है', जिस पर जोर दिया गया है, वह व्यक्तिक रहस्यवाद है, जो अव्यक्तिक रहस्यवाद से बिल्कुल भिन्न है। इस श्लोक में सब वस्तुओं की उस एक में,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जो कि व्यक्तिक परमात्मा है, सुगम्भीर एकता की अनुभूति को प्रकट किया गया है। वह जितना ही अधिक अद्वितीय है उतना ही सार्वभौम है। आत्मा जितनी गंभीरतर होगी, उसका ज्ञान उतना ही विस्तृततर होगा। जब हम अपने अंदर विद्यमान ब्रह्म के साथ एक हो जाते हैं, तब हम जीवन की समूची धारा के साथ एक हो जाते हैं।[81]

भगवद्गीता में ज्ञानी पुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह दुर्लभ होता है। अनेक जन्मों के उपरान्त ही वह सत्य को हृदयंगम कर पाता है तथा जो यह समझता है कि जो कुछ भी है वह सब वासुदेव (ईश्वर) ही है। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' के अनुसार जो किसी को वासुदेव समझे, स्थूल से सूक्ष्म तक सभी प्राणियों में एक ही अन्तर्यामी पुरुष का साक्षात्कार करे, ऐसा ज्ञानी पुरुष दुर्लभ ही होता है। ऐसा पुरुष समदर्शी होता है। उसे विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, बैल, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में समदृष्टि होती है।[82] इस प्रकार सर्व प्राणियों में उस एक अनन्त सर्वान्तर्यामी परमतत्व का दर्शन करना ही ज्ञानी पुरुष का लक्षण है। वह समदर्शिन् होता है, सबमें समान दृष्टि रखने वाला होता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गीता में ज्ञानयोग और कर्मयोग को अन्योन्याश्रित माना गया है। दोनों एक दूसरे के पूरक माने गये हैं। ज्ञानयोग द्वारा ही कर्मयोग की उपलब्धि होती है। इसीलिए गीता में ज्ञानयोग की प्रशंसा की गयी है। ज्ञान रूपी नौका द्वारा पाप रूपी समुद्र को सरलता से पार किया जा सकता है। गीता कहती है कि जैसे अग्नि समिधा को भस्मसात कर देती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को जला देती है। ज्ञान के समान कोई पवित्र वस्तु इस पृथ्वी पर नहीं है जो ईश्वर से श्रद्धा रखने वाला है, ज्ञान को प्राप्त करने में तत्पर है तथा जो संयतेन्द्रिय है, वह ज्ञान की उपलब्धि कर लेता है। ज्ञान की उपलब्धि कर लेने के बाद उसे सर्वोच्च शांति मिलती है। लेकिन जो अज्ञ है, अश्रद्धालु है एवं संशयात्मा है, उसका विनाश हो जाता है। अतः संशयात्मा के लिए न तो यह लोक है और न परलोक ही है। उसे सुख भी नहीं मिलता। भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से इसीलिए कहा है कि अपने हृदय में अज्ञान से उत्पन्न संशय को ज्ञान रूप तलवार से काटकर योग का आश्रय ग्रहण करो । तात्पर्य यह है कि ज्ञानयोग द्वारा व्यक्ति सभी प्राणियों को ईश्वर में तथा सभी प्राणियों में ईश्वर को देखता है। यही ईश्वर का यथार्थ ज्ञान है। वस्तुतः जो सब प्राणियों में ईश्वरानुभूति कर लेता है वह अज्ञानी के सदृश आसक्ति एवं वासनाओं में आबद्ध नहीं होता।[83]

गीता में ध्यानयोग

पूर्व के विवेचन से स्पष्ट कि भगवद्गीता हमारे सम्मुख एक सर्वांगसम्पूर्ण योगशास्त्र प्रस्तुत करती है, जो विशाल, लचीला और अनेक पहलुओं वाला है। इस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

योगशास्त्र में आत्मा के विकास और ब्रह्म तक पहुँचने के विविध मार्ग सम्मिलित हैं। इस शास्त्र में प्रत्येक मार्ग के साथ योग शब्द जुड़ा हुआ है, जैसे ज्ञानयोग अर्थात् ज्ञान का मार्ग, भक्तियोग अर्थात् भक्ति का मार्ग, कर्मयोग अर्थात् कर्म का मार्ग।

भगवद् गीता में जिस योग का वर्णन किया गया है वह पतंजलि के योग से सर्वथा भिन्न है। इसके साथ ही ऐसी सम्भावना प्रतीत नहीं होती कि गीताकार पातंजल योग अथवा उसके द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट पदों से परिचित रहा होगा। इतना ही नहीं गीता में जिस योग का विश्लेषण किया गया है, वह उपनिषदों में वर्णित योग से भी सर्वथा भिन्न है। जैसे कठोपनिषद् में इन्द्रियदमन को योग कहा गया है, परंतु गीता में दम को योग न मानकर उसे योग की प्रारंभिक अवस्था माना गया है।[84] वैसे कहा गया है कि गीता के छठे अध्याय में ध्यानयोग का विशद् वर्णन उपनिषद् पद्धति के अनुसार हुआ है, जिसमें श्वेताश्वतरोपनिषद् की झलक स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती।[85]

भगवद्गीता में योग शब्द के प्रयोग कई अर्थों में किये गये हैं जो एक दूसरे से असम्बन्धित से प्रतीत होते हैं। फिर भी उन विविध अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का अन्वेषण करना असंभव नहीं है। गीता में योग के प्रारंभिक शब्द की व्युत्पत्ति 'युजिरयोगे' अथवा युज धातु से मानी गयी है जिसका अर्थ है मिलाना तथा जो निषेधात्मक रूप में नियंत्रण अथवा निरोध के अर्थ में युज् धातु से सम्बद्ध है। मिलने का अर्थ है किसी वस्तु से सम्पर्क स्थापित करना तथा साथ ही किसी अन्य से विच्छेद करना भी । किसी विशिष्ट मानसिक दृष्टिकोण को अपनाने अथवा कर्म को करने के प्रसंग में बुद्धियोग शब्द का प्रयोग होता है। बुद्धियोग शब्द का अर्थ है किसी विशिष्ट प्रकार की बुद्धि और मानसिक दृष्टिकोण को अपनाना। इसी तरह कर्मयोग शब्द का अर्थ है नित्य नैमित्तिक कर्मो के साथ सम्बन्ध स्थापित करना। योग शब्द का अर्थ है आत्मा अथवा ईश्वर पर चित्त को स्थिर करना। इन सभी अर्थों में मुख्य अर्थ मिलन है जिसमें वियोग अर्थात् विच्छेद का अर्थ भी अन्तर्निहित है। यहाँ विच्छेद का अर्थ है भोगेच्छा-त्याग तथा फल त्याग। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ कर्मफल त्याग को योग कहा गया है। गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने (अर्जुन से) संन्यास को योग कहा है। संकल्प-त्याग के बिना कोई भी पुरूष योगी नहीं बन सकता। इस प्रकार योगारूढ़ के लिए विषयों और कर्मों में आसक्ति को जीतना आवश्यक है तथा कर्मफलेच्छा का परित्याग भी आवश्यक है । नित्य नैमित्तिक कर्मों का संपादन करते हुए तथा भोगासक्ति से मन को हटाने का प्रयास करते हुए हमें धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से भोग, आनंद और स्वार्थ के उद्देश्य से अलग होने में सफलता मिलती है। इस स्तर पर पहुँचा हुआ व्यक्ति योगारूढ़ कहलाता है।[86]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस प्रकार भगवद्गीता में पतंजलि योगसूत्र जैसा योग का कोई सुनिश्चित और विशिष्ट अर्थ नहीं दिया गया है। इसके फलस्वरूप योग की अनेक परिभाषाएँ गीता में देखने को मिलती है। जैसे योग को कर्मयोग कहा गया है तथा उसे सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग से भिन्न समझा गया है । कर्मयोग को गीता में योगियों का मार्ग बताया गया है। गीता में बुद्धियोग शब्द का प्रयोग कम से कम तीन स्थलों तथा भक्तियोग शब्द का प्रयोग कम से कम एक स्थल पर किया गया है। इन सभी स्थानों पर योग का अर्थ संयुक्त होना ही अनुकूल प्रतीत होता है। योग का उपर्युक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही गीता का मुख्य विषय है। गीता का एक प्रमुख उपदेश यह भी है कि मनुष्य को अपने नित्य कर्मों का संपादन करते रहना चाहिए। यह कर्तव्य परायणता ही कर्मयोग है। निष्काम कर्मों का संपादन करना ही कर्म में कुशलता है, क्योंकि व्यक्ति इसी में योगयुक्त होने अथवा आत्मलाभ में समर्थ होता है। इस प्रकार कर्म करने में कुशलता को योग कहा गया है (योगः कर्मसु कौशलम्)[87] गीता में मन की समता को भी योग कहा गया है। (समत्वं योग उच्यते)। गीता में योग में स्थिर होकर, सब प्रकार की आसक्ति को त्यागकर, सफलता और विफलता में मन को समान रखते हुये कर्म करने की बात कही गयी है, क्योंकि मन की समता ही योग कहलाती है। यहाँ समत्व का अर्थ है आंतरिक संतुलन जिसके द्वारा क्रोध, आशु क्षोभ, अभिमान और महत्वाकांक्षा पर विजय प्राप्त की जाती है।[88] दुःखों कें साथ संयोग से अलग हो जाने को भी योग कहा गया है (तं विद्यात् दुखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्)। गीता में यह भी कहा गया है कि इस योग का अभ्यास दृढ़ संकल्प और अनुद्विग्नचित्त द्वारा करना चाहिये ।[89] वासनाओं से अविचलित और राग (आसक्ति) से अविक्षुब्ध योगस्थ योगी की उपमा निर्वात स्थान में रखे हुयी दीपक की स्थिर ज्योति से दी गयी है । इस परमस्थिति को प्राप्त योगी को ब्रह्मभूत की संज्ञा दी गयी है। योगयुक्त योगी अपनी आत्मा में सर्वभूतों का दर्शन करता है और सर्वभूतों में अपनी आत्मा का दर्शन करता है। योगयुक्त होने के कारण योगी ब्रह्मभूत होकर सभी भूतों में ईश्वर को देखता है और ईश्वर में सभी भूतों का दर्शन करता है।[90]

भगवद्गीता में योग के दो कार्य बताये गये हैं—एक तो स्वाभाविक झुकाव वाली इन्द्रिय-आसिक्त से अलग करने का प्रयास तथा दूसरे, स्वयं का उन्नयन करना एवं परमात्मा से संस्पर्श का प्रयास करना। इस प्रकार गीता की मान्यता के अनुसार जिसने अपने आप को जीत लिया है और जो अपने आप में शांत है, परमात्मा से उसका मिलन होता है। ऐसा ही मनुष्य योगी कहलाता है। परमात्मा के साथ इस प्रकार का ऐक्य स्थापित करने के इच्छुक योगी को अपने मन, शरीर को नियंत्रण में रखकर निराश रहते हुए अपरिग्रही और एकाकी रहना चाहिए। इस प्रकार योगी के लिए अनेक प्रकार के आचारों की चर्चा की गयी है। गीता चंचल मन को एकाग्र करने के लिए आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि योगासनों का उपदेश देती है। योगी के लिए कहा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गया है कि वह शुद्ध एवं समभूमि पर आसन लगावे और उस पर एक के ऊपर एक कुशा, घास, मृगचर्म एवं कोमल वस्त्र बिछाकर, उस आसन पर बैठकर अपने विचारों, इन्द्रियों, क्रिया व्यापारों को नियंत्रित करते हुए मन को भगवान् के एकाकी बिन्दु पर केन्द्रित करे तथा इस प्रकार आसन पर बैठकर योगाभ्यास करें। योगी को मध्यम मार्ग अपनाने की बात कही गयी है अर्थात् उसे न अधिक न कम खाना चाहिए तथा न अधिक सोना एवं न अधिक जागरण ही करना चाहिए। इस तरह गीता युक्ताहार, पान, निद्रा तथा शरीर की सामान्य गतियों का एक स्वर्णिम मार्ग निर्धारित करती है। गीता के अनुसार योगी का उद्देश्य मन का पूर्ण रूप से निरोध करना नहीं है, प्रत्युत मन अथवा आत्मा का ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित करना है। कहा गया है कि योगी शरीर, मस्तक, गर्दन को सम करके स्थिर होता हुआ तथा इधर-उधर न देखता हुआ अपनी नाक की नोक पर दृष्टि स्थिर करे तथा इस प्रकार योगाभ्यास करता हुआ भगवान् के साथ एकत्व स्थापित करे।[91]

गीता के अनुसार योगी दो प्रकार के हो सकते हैं— युक्त तथा युक्ततम। जो मिट्टी पत्थर एवम् स्वर्ण को एक समझता है, जिसका अंतःकरण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जो जितेन्द्रिय एवं विकार रहित है, वह योगी 'युक्त' कहलाता है। जो अपनी अंतरात्मा को भगवान् में लगाकर पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ भगवान् का निरंतर भजन करता है, वह इन 'युक्त' योगियों में भी श्रेष्ठ है तथा उसे ही 'युक्ततम' कहा गया है।[92]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गीता में वर्णित योग उपनिषदों एवं पातंजल योग से कई अर्थों में भिन्न है जिसकी ओर पीछे के पृष्ठों में संकेत दिया गया है। गीता में योग शब्द का प्रयोग भी कई अर्थों में किया गया है। उन सभी अर्थों में योग का मुख्य अर्थ है परमात्मा के साथ एकत्व-स्थापन। मन अथवा आत्मा का परमात्मा में विलीनीकरण ही वस्तुतः गीता के योग का प्रमुख उद्देश्य है।

गीता में भक्तियोग

डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है कि भक्ति मार्ग का मूल अत्यंत पुरातनकाल के धुंध में छिपा हुआ है। ऋग्वेद की स्तुतियों और प्रार्थनाओं, उपनिषदों की उपासनाओं और भागवत-धर्म की तीव्र धर्मनिष्ठा का प्रभाव गीता के लेखक पर पड़ा है। उसने उपनिषदों के धार्मिक पक्ष से सम्बन्ध रखने वाली उस विचारधारा को विकसित करने का प्रयत्न किया है, जिससे उपनिषदकार उन्मुक्त और सुस्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं कर पाये थे।[93] कहा गया है कि भगवद्गीता में पहली बार ज्ञानमार्ग, औपनिषद् ज्ञान तथा योग (कर्म योग) के साथ-साथ स्वतंत्र रूप से भक्तिमार्ग का प्रतिपादन हुआ है । भक्ति सिद्धांत की विशद व्याख्या करने वाले और भक्ति को आत्मोत्थान एवं स्वानुभूति का मुख्य मार्ग बताने वाले भागवत पुराण और वैष्णव विचार धारा के अर्वाचीन सिद्धांतों में वर्णित

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रधान सिद्धातों को गीता में प्रस्तुत किया गया है। द्रष्टव्य है कि उपनिषदों में भक्ति-सिद्धान्त सुलभ नहीं होता, यों यत्र-तत्र भक्ति के कुछ अस्पष्ट संकेत अवश्य ही देखने को मिल जाते हैं। उपनिषदों में ईश्वर का जो वर्णन किया गया है, उससे उसके अंतर्यामी होने और विश्व का धारक होने का पता चलता है तथा साथ ही वे वर्णन उसकी महान विभूति, शक्ति और दिव्यत्व को बताने वाले हैं, लेकिन गीता में जिस ईश्वर का वर्णन है वह गहरे व्यक्तिगत सम्बन्ध की आध्यात्मिक चेतना से युक्त है। गीता का ईश्वर मात्र विभूतियुक्त पुरुषोत्तम ही नहीं है बल्कि सखा के रूप में भी है, जो मानव-कल्याण के लिए अवतरित होता है, जो मनुष्य के सुख-दुःख का साथी है तथा लौकिक पदार्थों की उपलब्धि के लिए भी जिससे प्रार्थना की जा सकती है। गीता का ईश्वर प्रिय वस्तुओं में भी प्रियतम है एवं निकटस्थ वस्तुओं में भी सर्वाधिक निकट हैं। उसे प्रिय सखा और परमतत्व समझकर मनुष्य उसकी शरण में जा सकता है तथा अपना सर्वस्व उस पर समर्पित कर सकता है । यह गीता का भक्ति मार्ग है, इसीलिए गीता में कहा गया है कि नानाविधि कठिनाइयों एवं बाधाओं के रहते हुए भी ईश्वर के भक्तों का कभी विनाश नहीं होता।[९४]

भगवद्गीता इस बात पर विशेष बल देती है कि हमें ईश्वर को सगुण समझकर उसके साथ वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। गीता निर्गुण की उपासना की तुलना में सगुण ईश्वर की उपासना को सहज और श्रेष्ठतर मानती है। ईश्वर की पुरूषोत्तम रूप में सखाभाव एवं दास्यभाव से आराधना करने का जो मार्ग है वह भक्ति मार्ग है। सर्वकर्मफल ईश्वरार्पण, सर्वभूतमैत्री एवं करुणा, यतात्मा, सुख-दुःख में सम, संतुष्ट एवं पूर्णसमत्वयोग और स्थितप्रज्ञ की अवस्था द्वारा ईश्वर साहचर्य अर्थात् भक्ति योग का समारंभ होता है। गीता में श्रीकृष्ण ही ईश्वर है जो अर्जुन को सभी धर्मों अर्थात् सभी कर्मकांड, विधिनिषेध, यज्ञयागादि को त्यागकर ईश्वर के ही शरण में जाने का उपदेश देते हैं जिससे वह मुक्ति को प्राप्त कर लेगा। गीता के अंतिम अध्याय में कहा गया है कि भक्ति द्वारा ही हम ईश्वर को जान सकते हैं अर्थात् ईश्वर क्या है, कितना है अथवा उसकी प्रभुता एवं विभुता क्या है आदि का ज्ञान भक्ति द्वारा ही संभव है। इसके बाद मनुष्य ईश्वर में ही प्रवेश करता है। सर्वभाव से ईश्वर की शरण में जाने से ही मनुष्य को शाश्वत शांति की उपलब्धि होती है।[९५] इस प्रकार गीता में अव्यक्त और निराकार की उपासना को क्लेशकर बताया गया है और इसीलिए सगुण ईश्वर की उपासना करने का उपदेश दिया गया है।[९६]

कहा गया है कि भक्ति शब्द भज् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—सेवा करना। इस प्रकार भक्ति शब्द का अर्थ हुआ भगवान् की सेवा। वस्तुतः भक्ति परमात्मा

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के प्रति प्रेमपूर्ण अनुराग है।[97] गीता में कहा गया है कि चार प्रकार के लोग भगवान् को भजते हैं अर्थात् भक्त चार प्रकार के होते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी।

इस सब में ज्ञानी भक्त जो सर्वदा ब्रह्म के साथ संयुक्त रहता है (नित्ययुक्त) और जिसकी भक्ति अनन्य होती है, सर्वश्रेष्ठ है। ज्ञानी भक्त को ईश्वर अत्यन्त प्रिय है तथा ईश्वर को ज्ञानी भक्त अत्यंत प्रिय है। वस्तुतः नित्ययुक्त और एक भक्ति (अनन्य भक्ति) में लीन रहने का निरंतर अभ्यास ही यथार्थ ज्ञान है। गीता के अनुसार भक्ति मार्ग श्रेष्ठतम मार्ग है, क्योंकि गीता के अनुसार यदि कोई व्यक्ति आत्मोत्सर्ग के पथ में अग्रसर होने और राग-द्वेष से वियुक्त होकर स्थितप्रज्ञ होने में असमर्थ है, तो भी वह शरणागति एवं निश्चल भक्ति द्वारा भगवान के अनुग्रह को प्राप्त कर सकता है। वह भगवान की कृपा से ही यथार्थ ज्ञान और नैतिक उत्थान को सरलता से प्राप्त कर सकता है जिसे अन्य व्यक्ति बड़ी कठिनाई से प्राप्त करते हैं।[98] इस प्रकार ज्ञानी भक्त तो भगवान् का आत्मा स्वरूप ही है—(ज्ञानी त्वात्मैव में मतम्) क्योंकि वह सब प्रकार से अपने को भगवान् में लगाकर मात्र उन्हीं में स्थित रहता है। इसीलिए सभी भक्तों में ज्ञानी भक्त को गीता सर्वश्रेष्ठ मानती है (तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते) जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है।[99]

इस प्रकार गीता कहती है कि जो लोग भगवान को सब वस्तुओं का उत्पत्ति स्थान समझते हुए विश्वासपूर्वक उसको भजते हैं, उनके विचार भगवान् में स्थिर हो जाते हैं, उनका जीवन भी भगवान् के प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाता है। इस तरह एक दूसरे को ज्ञान देते हुए सर्वदा ही भगवान् के विषय में कथावार्ता करते हुए वे संतुष्ट रहते हैं, भगवान् में ही रममाण होते हैं। जो निरन्तर इस प्रकार भगवान् की भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक उनको भजते हैं, उनकी पूजा करते हैं, भगवान् उन्हें वह बुद्धियोग (बुद्धि की एकाग्रता) प्रदान करते हैं जिससे वे भगवान् को प्राप्त कर लें । इस प्रकार भगवान् उनपर कृपा करने के लिए ही उनके अंतःकरण में प्रवेश करके ज्ञानदीपक से उसके अज्ञानान्धकार को नष्ट कर देते हैं।[100]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि गीता के मतानुसार भक्ति श्रेष्ठतम मार्ग है। भक्ति मार्ग के अनुयायी का कभी भी विनाश नहीं होता है। वह अंततः भगवान को प्राप्त कर ही लेता है। भक्ति द्वारा ही भगवान् की प्रभुता एवं विभुता का पता चलता है। गीता कहती है कि यदि कोई राग द्वेष से अलग होकर स्थितप्रज्ञ होने में असमर्थ है, तो भी वह शरणागति एवं निश्चल भक्ति द्वारा भगवान् की कृपा को प्राप्त कर सकता है। उक्त कृपा से ही यथार्थ ज्ञान और नैतिक उत्थान की उपलब्धि होती है जिसके फलस्वरूप भगवान् की प्राप्ति होती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भगवद्गीता में विभिन्न मार्गों का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। गीता के अनुसार कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति योग विभिन्न स्वतंत्र साधन मार्ग न होकर एक ही मार्ग के विभिन्न ठिकाने हैं जिन्हें आध्यात्मिक पथ का पथिक पार करता है। गीता के अठारहवें अध्याय में इन मार्गों का परस्पर समन्वय प्रस्तुत किया गया है। गीता के साधनमार्ग का आरंभ निष्काम कर्म से होता है तथा उसका अंत शरणागति से। निष्काम कर्म के संपादन से एवं नियमपूर्वक ध्यानयोग के अभ्यास से साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है और उक्त भाव को प्राप्त कर वह सभी प्राणियों में समता का दर्शन करता है। इसी ब्राह्मी स्थिति के उदित होने पर साधक परमेश्वर में उत्कृष्ट भक्ति (पराभक्ति) को उपलब्ध करता है तथा भक्ति को प्राप्त कर लेने पर साधक 'पर ज्ञान' का अधिकारी हो जाता है। इस 'पर ज्ञान' द्वारा वह भगवान के स्वभाव एवं स्वरूप, विभूति एवं गुण को यथार्थ रूप से जान जाता है। इसका फल ईश्वरोपलब्धि है जिसके लिए प्रपत्ति की नितांत आवश्यकता है। गीता का सर्वगुह्यतम ज्ञान है—

मन्मना भवमद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू।
मामैवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।

यह गीता का सार है। तात्पर्य यह है कि जितने भी साधनमार्ग विद्यमान हैं, उन सबके केन्द्र में ईश्वर ही स्थित है। उस ईश्वर को लक्ष्य में रखने से भिन्न-भिन्न साधनों का अपूर्व समन्वय निष्पन्न हो जाता है। अतः इस श्लोक का अर्थ है—भगवान् में मन लगाना चाहिए (ज्ञानयोग), भगवान् की भक्ति करनी चाहिए (भक्तियोग), भगवान् के निमित्त यज्ञ करना चाहिए (कर्मयोग) तथा भगवान् का ही आश्रय ग्रहण (शरणागति) करना चाहिए। इस प्रकार भगवान् में आश्रित होने से इन विभिन्न मार्गों का सामंजस्य हो जाता है। इस प्रकार 'मत्परायणः' तथा 'सर्वगुह्यतमं वचनं' द्वारा शरणागति की श्रेष्ठता प्रतिपादित हो जाती है।[101]

भगवद्गीता आत्मा के ज्ञाता, परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने वाले ज्ञानी को अनेक नामों से पुकारती हैं, जैसे वह स्थितप्रज्ञ हैं, भक्त है, त्रिगुणातीत है, ब्रह्मभूत है। उसे ही स्थितधी, प्रतिष्ठितप्रज्ञ भी कहा गया है।[102]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि गीता में श्री कृष्ण ही भगवान् हैं तथा अर्जुन साधक है, जो श्रद्धा से युक्त होकर, सर्वकर्मों में आसक्ति का परित्याग कर, परमात्मा के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण करके भगवान् का साक्षात्कार करता है। यही परमात्मा का रहस्यात्मक प्रत्यक्ष है जिसे रहस्यवादी साधक उपलब्ध करता है। भगवद्गीता में कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग का निर्वचन हुआ है जिनके द्वारा रहस्यवादी साक्षात्कार होता है। ये विभिन्न साधनमार्ग एक दूसरे के पूरक हैं। इनमें भक्ति को श्रेष्ठतम बताया गया है, क्योंकि भगवान् के भक्त का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कभी भी विनाश नहीं होता। भगवान् की शरण में जाकर उनका भजन करता हुआ साधक अन्त में सरलतापूर्वक भगवान् की कृपा को प्राप्त कर लेता है जिससे ईश्वरोपलब्धि का मार्ग उन्मुक्त हो जाता है।

वैष्णव गुह्यविद्या (पांचरात्र मत)

पांचरात्र मत का मूल महाभारत में देखने को मिलता है, यद्यपि बाद में चलकर एक स्वतंत्र गुह्य मत के रूप में इसका विकास हुआ। भारतीय रहस्यवाद के अध्ययन की दृष्टि से पांचरात्र मत का परवर्ती आध्यात्मिक विकास ही द्रष्टव्य है। वस्तुतः पांचरात्र गुह्य विष्णु-पूजा की पद्धति के रूप में था।[103] नारद पांचरात्र के अनुसार विवेच्य विषयों की संख्या के आधार पर ही पांचरात्र नामकरण हुआ। 'रात्र' का अर्थ होता है— ज्ञान। पंच विषयों-परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति (डीवोशन), योग तथा विषय (विज्ञान, संसार) का निरूपण करने के कारण ही इस मत का नाम पांचरात्र पड़ा।[104] इसके केन्द्रीय गुह्य सिद्धान्त के अनुसार भगवान् को चतुर्मुखी माना गया है अर्थात् विष्णु अपने को चर्तुव्यूह रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह चर्तुव्यूह भगवद्रूप ही है। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को मिलाकर चर्तुव्यूह बना है। वस्तुतः यह चर्तुव्यूह एक एवं अद्वितीय भगवान् के चार विभिन्न पक्ष हैं। परमदैवत भगवान् की छह विभिन्न शक्तियां मानी गयीं–ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज। ये छह गुण मिलाकर पुनः तीन वर्गों (व्यूहों) का निर्माण करते हैं। पहले (ज्ञान) और चौथे (बल) से पहला वर्ग बनता है जो संकर्षण से सम्बद्ध है। दूसरे (ऐश्वर्य) और पाँचवें (वीर्य) गुण से द्वितीय वर्ग का निर्माण होता है जो प्रद्युम्न से संबद्ध है। इसी प्रकार तीसरे (शक्ति) और छठे (तेज) गुण से तृतीय वर्ग बनता है जो अनिरुद्ध से संबद्ध है। वस्तुतः इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पांचरात्र पद्धति वासुदेवकुल की पूजा पर ही आघृत है; जैसे संकर्षण वासुदेव के भ्राता हैं, प्रद्युम्न उनके पुत्र है तथा अनिरुद्ध वासुदेव के पौत्र हैं। इन तीनों में से प्रत्येक व्यूह का निर्माण दो-दो गुणों के योग से हुआ है जो षड्गुणों से युक्त वासुदेव के समरूप (तदेव) हैं। तीनों अंतिम गुण (बल, वीर्य और तेज) तीसरे गुण-शक्ति की एक पुनरावृत्ति मात्र हैं। अब तीन प्रमुख गुण, जैसे ज्ञान ऐश्वर्य, शक्ति शेष रह जाते हैं। ये तीनों पृथक-पृथक संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरूद्ध से सम्बद्ध हैं तथा सामूहिक रूप में स्वयं वासुदेव से सम्बद्ध हैं। तीनों व्यूह-संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध वासुदेव से संबन्धित हैं जिसमें संसृतिविज्ञान सम्बन्धी दृष्टि अनुस्यूत है। एक क्रम में इनका उद्भव हुआ है । वासुदेव से संकर्षण की उत्पत्ति हुई, तथा इसी प्रकार संकर्षण से प्रद्युम्न, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मा से प्रकृति का जन्म हुआ, और प्रकृति से मन, तथा मन से चेतना की उत्पत्ति हुई। डा. ग्रियर्सन ने पांचरात्र की संसृतिविज्ञान सम्बन्धी स्थिति को बड़े ही स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि वासुदेव सर्वप्रथम प्रकृति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

को उत्पन्न करते हैं और अपने को प्रतिबद्ध जीवात्मा-संकर्षण के रूप में संक्रांत करते हैं। संकर्षण और प्रकृति के संयोग से मनस् पैदा हुआ, तत्क्षण संकर्षण ने प्रतिबद्ध जीवात्मा के रूप में संक्रांत किया जिसे प्रद्युम्न कहते हैं। प्रद्युम्न और मनस के संयोग से सांख्य अहंकार उत्पन्न होता है और प्रद्युम्न तीसरी अवस्था में संक्रांत करते हैं जिसे अनिरुद्ध कहते हैं। अहंकार और अनिरुद्ध से महाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार चतुर्व्यूह संसृतिशास्त्रीय महत्व से संपन्न है।[105]

पांचरात्र मत के अनुसार चतुर्व्यूह विष्णु के ही विभिन्न रूप हैं। इस मत के अनुसार विष्णु दो और गुणों से भी संपन्न बताये जाते हैं जिन्हें निग्रह और अनुग्रह कहते हैं। निग्रह और अनुग्रह जब उन्मुक्त रूप में प्रकाशित होते हैं तो उन्हें विनाश और निर्माण, तिरोधान और आविर्भाव, कोप और दया, सीमाबद्धता और कृपा के रूप में जाना जाता है। पांचरात्र मत में कृपा का विशेष महत्व है। परमतत्व की कृपा की तुलना स्वर्ग से होने वाली कृपावृष्टि से की जाती है जो धरा को रससिक्त कर देती है। पांचरात्र मत अद्वैतवादी भाषा का बहुत ही कम प्रयोग करता है। यह अद्वैतवाद के माया सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता है।[106]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पांचरात्र मत गुह्य विष्णु-पूजा की पद्धति के रूप में स्वीकार किया गया था। पाँच विषयों का- परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग और विषय (विज्ञान)—निरूपण करने के कारण ही इसका पांचरात्र नामकरण हुआ। इसमें विष्णु अपने को चतुर्व्यूह रूप में प्रस्तुत करते हैं। चर्तुव्यूह में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हैं, जो विष्णु के चार रूप हैं। विष्णु भगवान् की छह शक्तियाँ मानी गयी हैं—ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज। बताया गया है कि ज्ञान और बल से संकर्षण का निर्माण हुआ, ऐश्वर्य और वीर्य से प्रद्युम्न का तथा इसी प्रकार शक्ति एवं तेज से अनिरुद्ध का निर्माण हुआ। यह भी बताया गया है कि वासुदेव से संकर्षण, संकर्षण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की क्रमशः उत्पत्ति हुई। यह चतुर्व्यूह भगवद्रूप ही है। इसी चतुर्व्यूह द्वारा सृष्टि के क्रम को भी व्याख्यायित किया गया है।

शैव गुह्यविद्या (तंत्रवाद)

पांचरात्र के वैष्णव गुह्यविद्या के सदृश ही तंत्रवाद की शैव गुह्यविद्या का मूल उत्स भी महाभारतकालीन है। विश्वास और कार्यप्रणाली के व्यतिक्रमों की दृष्टि से शैव गुह्यविद्या वैष्णव गुह्यविद्या का भी अतिक्रमण कर जाती है जिसे स्पष्टतः रहस्यवाद के पतन के रूप में समझा जा सकता है। रहस्यवाद और गुह्यविद्या (मिस्टिसिज्म और आकल्टिज्म) का अंतर भी दृष्टव्य है। रहस्यवाद ईश्वर-भक्ति और ईश्वर साक्षात्कार के लिए संपूर्ण रूप से क्रियाशील रहता है, जबकि गुह्यविद्या ईश्वर-भक्ति और ईश्वर-साक्षात्कार को मात्र आवरण (ढाल) के रूप में स्वीकार करती है। तंत्रवाद मंत्र, यंत्र

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

और न्यास के वर्णनों से भरापूरा है जो मात्र आकस्मिक होते हैं तथा इस प्रकार हृदय द्वारा किये गये वास्तविक पूजन में अनावश्यक तत्व माने जाते हैं। तन्त्रवाद में शिव परमचेतना के प्रतिरूप माने जाते हैं तथा शक्ति परमशक्ति (सुप्रीम पावर) की प्रतिरूप मानी जाती हैं। ये दोनों शाश्वत सत्य-ब्रह्मन् के पहलू मात्र हैं। तंत्रवाद स्वयं को अद्वैतवाद के व्यावहारिक पक्ष के रूप में प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से शंकराचार्य को एक महान् तांत्रिक के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। तंत्रवाद एकेश्वरवादी सिद्धान्त के मात्र साधना प्रतिरूप के रूप में समझा गया। तंत्रसाधना में पंचमकारों का सेवन किया जाता है। ये पंचमकार हैं—मद्य, मांस, मत्स्य, भुना हुआ अन्न (अन्यत्र मुद्रा का उल्लेख मिलता है), मैथुन। पंचमकार की साधना और वास्तविक रहस्यवाद के सम्बन्ध दक्षिणी ध्रुव और उत्तरी ध्रुव के सदृश हैं अर्थात् दोनों दो छोर की वस्तुएँ हैं। जस्टिस वुडरफ ने तांत्रिकों की पाँच प्रकार की साधना को इस प्रकार व्यक्त किया है—ज्ञान का मद, सर्वकर्मों का परमात्मा के प्रति समर्पण, सबके सुख-दुखः के साथ आत्मभाव, दुष्कर्मों का भस्मीकरण, मूलाधार चक्र-स्थित शक्ति के प्रतिरूप कुंडलिनी का चेतना के प्रतिरूप सहस्त्रारस्थ शिव के साथ महामिलन। जिसमें शक्ति का जागरण हो जाता है वह उस व्यक्ति से भिन्न है जिसमें शक्ति सुषुप्त है और इस प्रकार तांत्रिक साधना की संपूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया कुंडलिनी-जागरण पर आधारित है। तंत्रवाद के अनुसार शरीर में विभिन्न चक्र हैं, जैसे मूलाधर, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञा तथा मस्तिष्क में स्थित सहस्त्रार चक्र। लेकिन यह सत्य है कि तंत्रवादी वास्तविक रहस्यवाद को गुह्यवादी (आकल्ट) धारा की ओर ले जा सकता है जिससे रहस्यवाद का उद्धार कर सही मार्ग पर लाना सरल कार्य न होगा ।[107]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि तंत्रवाद में मंत्र, यंत्र और न्यास के वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इसमें शिव परमचेतना के प्रतिरूप माने गये हैं तथा शक्ति परमशक्ति (सुप्रीम पावर) की। तंत्रवाद में पंचमकारों के सेवन द्वारा साधना की जाती है। ये पंचमकार हैं—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। तंत्रवाद के अनुसार शरीर में छह चक्रों की स्थित मानी गयी है। ये चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञा और सहस्त्रार। वस्तुतः तांत्रिक साधन में सारी प्रक्रिया कुंडलिनी जागरण द्वारा संपन्न होती है जिसमें सहस्त्रार में शक्ति और शिव का महामिलन होता है।

श्रीमद्भागवत में रहस्यवाद

श्रीमद्भागवतपुराण, शांडित्य भक्तिसूत्र और नारदभक्तिसूत्र को रहस्यवादी प्रगति की मूल रचनाओं के रूप में स्वीकार किया गया है। ये तीनों कृतियाँ रहस्यवादी चिंतन के विकास का प्रतिनिधित्व करती हैं। कहा गया है कि संभवतः ये तीनों

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रचनाएँ एक ओर सांप्रदायिक मतवादों के साथ चलती हैं तो दूसरी ओर रहस्यवादी प्रगति के साथ। श्रीमद्भागवत का प्रभाव भारत के रामानुज और मध्व जैसे आस्तिक दार्शनिक मतों पर पड़ा है। इतना ही नहीं, समय के साथ भागवत को सिद्धान्त-ग्रंथ के रूप में भी ग्रहण किया गया। अति प्राचीन काल में इसे महानतम रहस्यवादियों के चित्रण व अभिव्यक्ति का कोष कहा गया है। आर०डी० रानडे ने भागवत् को भारत के प्राचीन रहस्यवादियों के वर्णन और भावोद्‌गारों का कोष कहा है। भागवत में ऐसे रहस्यवादियों के दर्शन होते हैं जिन्होंने संपूर्ण रहस्यवादी आन्दोलन की प्रक्रिया को प्रभावित किया है।[108]

भागवत् को भक्तिशास्त्र का सर्वस्व माना गया है। वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के सदृश इसे भी अपना उपजीव्य ग्रंथ माना है। बल्लभाचार्य के अनुसार भागवत महर्षि व्यासदेव की समाधिभाषा है अर्थात् महर्षि व्यास ने भागवत-तत्वों का समाधि दशा में अनुभव कर उसे भाषा का रूप दिया था। कहा जाता है कि वल्लभसंप्रदाय और चैतन्यसंप्रदाय पर भागवत का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। यह बात दूसरी है कि इन संप्रदायों ने भागवत तत्वों का निरूपण अपने ढंग से किया है।[109]

भागवत में कहा गया है कि सृष्टि के पूर्व केवल भगवान् की ही स्थिति थी, उस समय न सत् था और न असत्। भगवान् ही सबके कारण हैं। वे निर्गुण, सगुण तथा जीव-जगत् सब कुछ हैं। अद्वयतत्व सत्य हैं। उस एक, अद्वितीय, परमार्थ को विविध नामों से पुकारा गया है। ज्ञानी जन उसे ब्रह्म के नाम से पुकारते हैं तथा योगी जन परमात्मा और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं। वे उस समय निर्गुण कहलाते हैं जब सत्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त, निराकार रूप से रहते हैं वही निर्गुण ब्रह्म सत्वगुण की उपाधि से अविच्छन्न होकर प्रधानतया विष्णु, रूद्र, ब्रह्मा और पुरुष चार प्रकार का सगुण रूपधारण करता है। शुद्धसत्वावछिन्न चैतन्य को विष्णु कहा गया है। रजोमिश्रित सत्वावच्छिन्न चैतन्य को ब्रह्मा कहा गया है। इसी प्रकार तमोमिश्रित सत्वावच्छिन्न चैतन्य को रूद्र और तुल्यबल रज तम से मिश्रित सत्यावच्छिन्न चैतन्य को पुरुष कहा गया है। विष्णु, ब्रह्मा और रूद्र जगत् की स्थिति, सृष्टि और उसके संहार के निमित्त कारण होते हैं। अतः भागवत के अनुसार ब्रह्म ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। कहा गया है कि भगवान रूप रहित होकर भी रूपवान हैं। वे भक्तों की रूचि के अनुसार विभिन्न रूप धारण करते हैं । उनकी शक्ति का नाम माया है।[110]

भागवत के अनुसार भक्ति ही भगवान की प्राप्ति का एक मात्र उपाय है। भक्ति के अभाव में अन्य साधन उपहास मात्र है। चरित्र, बहुज्ञता, दान, तप आदि से भगवान् प्रसन्न नहीं होते। निर्मल भक्ति ही उनकी प्रसन्नता का मूल कारण है—

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपो त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥

□ □ □ □

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृतं न बहुज्ञता।
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न ब्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥

यह भक्ति दो प्रकार की है—साधनरूपा भक्ति और साध्यरूपा भक्ति। साधनभक्ति नव प्रकार की मानी गयी है—विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। साध्यरूपा अथवा फलरूपा भक्ति प्रेममयी होती है जिसके समक्ष, परमपद, ब्रह्मपद आदि नगण्य होते हैं। ब्रज की गोपिकाएं इस प्रेममयी भक्ति की प्रतिनिधि हैं।[111]

यदि हम भागवत् में रहस्यवादियों की कतिपय कोटियों का निर्धारण करें, तो हमें ऐसे रहस्यवादियों की एक अच्छी संख्या सुलभ होगी जिन्होंने रहस्यवादी प्रगति के संपूर्ण क्रम को प्रभावित किया है। ऐसे रहस्यवादियों में सर्वप्रथम राजकुमार बालक ध्रुव का नाम आता है जो अपनी विमाता से अपमानित होकर जंगल चला जाता है। जंगल में आध्यात्मिक गुरु की सहायता से वह भगवान् का साक्षात्कार करता है। दूसरे भक्त हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद हैं। विभिन्न विपत्तियों के बीच रहकर भी प्रह्लाद भगवान् के निष्काम भक्त बने रहने में सफल होते हैं। तीसरे भक्त उद्धव हैं जो भगवान् श्रीकृष्ण के मित्र हैं। भगवान् के प्रति उनका दार्शनिक तर्कयुक्त प्रेम है। भगवान् के प्रति कुब्जा का प्रेम वासना से प्रारम्भ होता है जो बाद में चलकर शुद्ध सात्विक प्रेम में परिणत हो जाता है। सागर में ग्राह से ग्रसित होकर गजराज ने भगवान् को पुकारा और भगवान् ने उसकी आर्त्तवाणी सुनकर रक्षा की। इससे स्पष्ट है कि भक्ति से जुड़े पशु की भी रक्षा होती है और भगवान् संकटकाल में पशु पर भी कृपा करते हैं। निर्धन भक्त सुदामा भक्ति के प्रसाद से स्वर्ण नगरी का अधिपति बना। निम्न जाति की स्त्री में आशक्त रहनेवाले अधम पातकी अजामिल ने मृत्यु के समय भगवान् के नाम-उच्चारण मात्र से मोक्ष की प्राप्ति की। एक अन्य भक्त अजगर ऋषि हैं जिन्होंने सर्प और मक्खी को अपना आध्यात्मिक गुरु माना। भागवत में ऋषभदेव एक उच्चकोटि के रहस्यवादी के रूप में वर्णित हुए हैं। अपने राज्य से निर्लिप्त होकर वे पूर्ण आत्मविस्मृति की अवस्था में आ जाते हैं जो भगवत् साक्षात्कार का ही रूप है। अवधूत एक भिन्न प्रकार के रहस्यवादी हैं जिन्होंने अपने 24 गुरुओं से विविध गुणों को सीखा और अंततोगत्वा अपने अद्वितीय जीवन में उन गुणों का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया। श्री शुकदेवजी भागवत के एक उच्चकोटि के रहस्यवादी हैं जो अपनी शिक्षाओं को व्यवहृत भी करते

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हैं। उनके रहस्यवादी उद्गारों से भागवत की रचना हुई। उन्होंने बताया है कि वास्तविक रहस्यवादी जीवन के लिए आध्यात्मिक गुरु, भक्ति, सत्संग आदि अपेक्षित हैं। अंत में भागवत के दशम और एकादश स्कंध के नायक श्रीकृष्ण का वर्णन आता है जो भागवत के सभी रहस्यवादियों में उत्कृष्ट हैं। अपनी आध्यात्मिक शक्तियों के कारण वे भगवान् के अवतार माने गये। उनकी शिक्षाएँ गीता के अनुकूल ही हैं। उन्होंने सर्वोच्च दार्शनिक शिक्षा पर आधारित कर्ममय जीवन व्यतीत किया।[112]

कृष्ण और गोपियों का प्रेम वासनामय नहीं था, वस्तुतः आध्यात्मिक क्षेत्र में ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। कहा जाता है कि अपने रहस्यात्मक साक्षात्कार में प्रत्येक गोपी ने भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन किया। साथ ही भगवान् ने स्वयं को प्रत्येक गोपी के समक्ष इस प्रकार प्रस्तुत किया कि सबने एक ही समय पर उनके आनन्द का उपभोग किया। वस्तुतः यही ब्रह्मानन्द है। घट-घट व्यापी, अनन्त स्वरूप भगवान् के साथ वासनामय सम्बन्ध संभव नहीं है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। भगवान् के प्रति गोपियों का प्रेम रहस्यवादी साक्षात्कार का प्रत्यक्ष प्रमाण है।[113]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भागवत भारत के प्राचीन रहस्यवादियों के वर्णन और उनके भावोद्गारों का कोष है। भागवत् के रहस्यवादियों ने संपूर्ण भारतीय रहस्यवादी आंदोलन की प्रक्रिया को प्रभावित किया है। वस्तुतः भागवत् भक्तिशास्त्र का सर्वस्व माना जाता है। भक्ति ही भगवान् की प्राप्ति का एक मात्र उपाय है। अन्य साधनों से भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं। भागवत के अनुसार भगवान्, रूपरहित होकर भी रूपवान हैं। संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार के निमित्त कारण भगवान् ही हैं। ये भगवान् भक्तों की रुचि के अनुसार विविध रूप धारण करते हैं। भागवत में बालक ध्रुव, प्रह्लाद, उद्धव, अजामिल, सुदामा आदि अनेक भक्तों का वर्णन सुलभ होता है। अंत में श्रीकृष्ण का वर्णन किया गया है जो अपने अलौकिक गुणों के कारण भगवान के अवतार माने गये हैं। भागवत के रहस्यवादियों में कृष्ण का उच्चतम स्थान है। उनकी शिक्षाएँ गीता के सिद्धांतों के अनुकूल ही हैं। गोपिकाओं और श्रीकृष्ण का प्रेम शुद्ध, पवित्र और सात्विक है, उसमें वासना की गंध की संभावना भी नहीं की जा सकती। अतः भगवान के प्रति गोपियों का प्रेम रहस्यवादी साक्षात्कार का सच्चा उदाहरण है।

शांडिल्य भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र

भारतीय रहस्यवाद की दृष्टि से भगवद्गीता और भागवत का विशेष महत्व है। रहस्यवाद के इन दोनों मौलिक ग्रंथों से परवर्ती रहस्यवादी कृतियाँ प्रभावित होती रहीं है। कहा गया है कि भगवद्गीता का भक्तितत्व सूत्रकाल में आकर शांडिल्य भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र में निरूपित हुआ है। वस्तुतः ये दोनों भक्तिसूत्र गीता और परवर्ती भक्ति साहित्य को जोड़ने वाली कड़ी हैं। भागवत् के सदृश शांडिल्य और नारद भक्ति

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

सूत्र भारतीय रहस्यवाद की मौलिक कृतियाँ हैं। इन सूत्रों के रचना-काल की निश्चित तिथि का निर्धारण करना बहुत सरल नहीं है। अपनी प्राचीन शास्त्रीय पद्धति के कारण शांडिल्य-भक्तिसूत्र प्राचीनतर प्रतीत होता है। यह भी स्पष्ट है कि अन्य महान् दार्शनिक सूत्रों के आधार पर शांडिल्य भक्तिसूत्र की रचना हुई। इस अंतःसाक्ष्य के आधार पर इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। नारद-भक्तिसूत्र शांडिल्य को उद्‌धृत करता है, लेकिन शांडिल्य भक्तिसूत्र नारद को उद्धृत नहीं करता। फिर भी अपनी विषय-वस्तु की दृष्टि से नारद भक्तिसूत्र अपनी सरल अभिव्यंजना और प्रखर भक्ति द्वारा शांडिल्य-भक्तिसूत्र का अतिक्रमण कर जाता है। इतना ही नहीं, नारद भक्तिसूत्र भक्तिसाहित्य के उज्ज्वलतम रत्नों में से एक रत्न के रूप में सम्मान्य हैं।[114]

शांडिल्य-सूत्र नारद-सूत्र की तुलना में अधिक दार्शनिक है। यह ब्रह्म और जीव की प्रकृति, उनके आन्तरिक सम्बन्ध और सृष्टि के प्रश्न को उपस्थित करता है। नारद भक्तिसूत्र भक्ति के सिद्धान्त से शुरू होता है तथा वह भक्ति के विविध पहलुओं का विश्लेषण करता है और मात्र शुष्क दार्शनिकता को प्रश्रय नहीं देता। शांडिल्य और नारद दोनों भगवद्‌गीता को मुक्त रूप से उद्धृत करते हैं और इस दृष्टि से दोनों भगवद्‌गीता और परवर्ती भक्ति साहित्य को जोड़ने वाली कड़ी का काम करते हैं। जहाँ तक भक्ति की शिक्षा का सम्बन्ध है, हम यह नहीं कह सकते कि दोनों भक्तिसूत्रों में अधिक अंतर है। सिद्धांत की दृष्टि से दोनों समान हैं। अतः नारद की तरह शांडिल्य भक्तिसूत्र में कहा गया है कि भक्ति दो प्रकार की होती हैं—मुख्य तथा गौणी। गौणी भक्ति कर्मकाण्ड से संबद्ध होती है अर्थात् गौणी भक्ति के अंतर्गत पूजा, कीर्तन, ध्यान और नाम स्मरण की क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं दूसरी ओर मुख्य भक्ति का तात्पर्य है मनुष्य में भगवान् के प्रति प्रेम के पवित्र निर्झर का उद्भव। एक बार इस प्रकार के प्रेम का आस्वादन कर लेने पर किसी अन्य वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती है। लेकिन गौड़ी भक्ति को प्राप्त करके हम यह नहीं कह सकते कि हमने परम भक्ति की प्रकृति को जान लिया है।[115]

नारदभक्तिसूत्र के प्रारंभ में भक्ति की परिभाषा दी गयी है—'सा त्वस्मिन परमप्रेमरूपा' अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति परम प्रेमरूपा है। वह अमृतस्वरूपा भी है जिसको प्राप्त कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है एवं तृप्त हो जाता है। इस भक्ति की उपलब्धि करके मनुष्य वांछारहित हो जाता है। वह न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में रमता है और न विषय-भोगों की प्राप्ति में उसे उत्साह ही होता है । इस परमप्रेमरूपा भक्ति को जानकर मनुष्य मस्त हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है तथा आत्माराम बन जाता है। यह भक्ति कामना-रहित होती है क्योंकि वह निरोधस्वरूपा होती है।[116] इस प्रकार भक्ति के स्वरूप को अनेक प्रकार से स्पष्ट किया गया है। उसके बाद नारद ने भक्ति के लक्षणों की चर्चा की है । सर्वप्रथम भक्ति के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

लक्षणों के विषय में विभिन्न मतों को प्रस्तुत किया गया है और अंत में नारद ने अपना मत उपस्थित किया है। पाराशर के अनुसार भगवान् की पूजा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है। गर्ग के मत से ईश्वर की कथा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है। महर्षि शांडिल्य के अनुसार आत्मा में रति का होना भक्ति है अर्थात् आत्मरति के अविरोधी विषयों में अनुराग का होना ही भक्ति है। परन्तु देवर्षि नारद के मतानुसार भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है, अपने सभी कर्मों का भगवान् में अर्पित कर देना और भगवान् का क्षणमात्र विस्मरण होने पर भी परम व्याकुलता का अनुभव करना ही भक्ति है। वस्तुतः इस प्रेम की प्रकृति वर्णनातीत है, गूंगे के गुड़ के सदृश है। नारद ने ब्रज की गोपिकाओं को इस प्रेम के आदर्श के रूप में स्वीकार किया है।[117]

नारदभक्तिसूत्र में भक्ति को कर्म, ज्ञान और योग से भी श्रेष्ठ बताया गया है, वह इन तीनों से अधिकतर है—'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा'। वह परमप्रेमरूपा भक्ति इन सबका फल है अर्थात् फलरूप है– फलरूपत्वात्।[118] इसके पश्चात् नारद ने भक्ति तथा ईश्वर की प्राप्ति के अन्य साधनों के सम्बन्ध की चर्चा की है। भक्ति और ज्ञान के सम्बन्ध में तीन मत सुलभ होते हैं। प्रथमतः अद्वैतवादियों के अनुसार भक्ति ही ज्ञान का साधन है। दूसरों के मतानुसार ज्ञान और भक्ति परस्परावलंबी हैं और ईश्वर को उपलब्ध करने के लिए समानरूप से उपयोगी हैं। तीसरे ज्ञान ही भक्ति का साधन है। यही नारद का विचार है। नारद के अनुसार भक्ति मात्र सभी ज्ञान का लक्ष्य नहीं है, बल्कि सभी कर्म और सभी योग का लक्ष्य है। वस्तुतः भक्ति स्वयं में फल है। नारद के अनुसार वह स्वयं फलरूपा है—'स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमारः'। यह भक्ति उस सगुण भगवान् (पर्सनल गाड) से संबद्ध है जो विनम्र व्यक्ति को चाहता है और अहंकारी पुरूष से घृणा करता है। भक्ति में किसी जाति, विद्या, कुल, धन, क्रिया के आधार पर भेद संभव नहीं है।[119]

भक्ति के साधनों की चर्चा करते हुए महर्षि नारद ने बताया है कि विषय-त्याग और संग-त्याग से भक्ति संभव होती है। इसी प्रकार अखंड भजन, लोक में भी भगवद्गुण श्रवण और कीर्तन भक्ति प्राप्ति के साधन हैं। लेकिन इस प्रेमरूपा भक्ति का मुख्य साधन भगवद्कृपा है। भगवान् की कृपा के लेशमात्र से ही यह प्रेमरूपा भक्ति सुलभ होती है। सज्जन पुरुषों की कृपा भी इस भक्ति का साधन है, सज्जनों का संग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है, इसलिए भगवद्कृपा से ही सज्जनों का संग सुलभ होता है। भगवान् और उनके भक्तों में भेद का अभाव होता है। अतः इससे स्पष्ट है कि भगवान् की कृपा से ही उनकी भक्ति की प्राप्ति होती है।[120]

भक्ति के लिए सत्संगति आवश्यक है, लेकिन इसके साथ ही दुर्जनों का परित्याग भी नितांत आवश्यक है—'दुस्संगः सर्वथैव त्याज्यः'। यह दुःसंग ही काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश और सर्वनाश का कारण होता है। नारद ने बताया है

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कि जो विविक्तस्थान का सेवन करता है, लोकबंध का उन्मूलन कर देता है, त्रिगुणों से रहित हो जाता है, योगक्षेम का परित्याग कर देता है, कर्मफल में आसक्तिरहित हो जाता है, कर्मों का भी त्याग कर निर्द्वन्द्व हो जाता है तथा वैदिक कर्मकाण्ड से संन्यास ले लेता है एवं असीम भगवद्प्रेम की उपलब्धि करता है, वही व्यक्ति स्वयं तरता है एवं लोक को भी तारता है।[121] महर्षि नारद ने बताया है कि इस प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है—मूकास्वादनवत्। किसी योग्य व्यक्ति में ही इस प्रेम का प्रकाशन संभव होता है। यह प्रेम गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षणवर्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर और अनुभवरूप है। ऐसे प्रेम की उपलब्धि कर साधक भक्त उक्त प्रेम का ही अवलोकन, श्रवण, भाषण और चिन्तन करता है।[122]

महर्षि नारद ने भक्ति के विविध भेदों की चर्चा की है। सर्वप्रथम उन्होंने भक्ति को सात्विक, राजस, तामस इन तीन भेदों में विभक्त किया है। भगवद्गीता के सदृश ही नारद ने भक्तों की तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं—आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी। वे पुनः बतलाते है कि आर्त भक्त सात्विक भक्ति को धारण करता है, जिज्ञासु राजस् भक्ति को तथा अर्थार्थी तामस् भक्ति को धारण करता है। सात्विक भक्ति राजस से श्रेष्ठ होती है और राजस् भक्ति तामस भक्ति से श्रेष्ठ होती है।[123] नारद ने (भक्तिसूत्र सं० 82) भक्ति का एक अन्य विभाजन भी किया है जिसमें भक्ति के एकादश प्रकार बताए गये हैं। ये हैं—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति।

नारदभक्तिसूत्र में कहा गया है कि प्रेमरूपा भक्ति स्वयं प्रमाण होती है, इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। अतः यह भक्ति सरलता से सुलभ होती है। यह भक्ति स्वयं में शांतिरूप और परमानन्द रूप होती है।[124] भक्तों के लक्षणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि भक्त को लोकहानि की चिंता नहीं करनी चाहिये। भक्त के लिए स्त्री, धन, नास्तिक और बैरी के चरित्र श्रवणीय नहीं हैं। अभिमान, दम्भ त्याज्य है। सर्व आचारों को भगवान् को अर्पित कर देने के बाद भी यदि काम, क्रोध, अभिमान आदि होते हैं तो उन्हें भी भगवान् के प्रति ही समर्पित समझना चाहिए।[125] जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि के आधार पर भक्तों में कोई भेद नहीं होता है, क्योंकि सभी तो भगवान् के ही भक्त हैं। भक्तों को किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि भगवान् तर्कातीत होते हैं, तर्क का कोई अंत नहीं होता है, तर्क के आधार पर भ्रम ही उत्पन्न होता है। अतः वादो नावलम्ब्यः। सर्वभाव से भगवान् का ही भजन करना चाहिए और भक्तिशास्त्रों का मनन करना चाहिए। भक्तों को अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारों का पालन करना चाहिए।[126]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सबमें भगवान की भक्ति ही श्रेष्ठ है। लोकनिन्दा-स्तुति की चिंता न करते हुए भक्ति के आचार्यों ने एकमत से भक्ति को ही श्रेष्ठ बताया है अर्थात् सनतकुमार, वेदव्यास, शुकदेव, शांडिल्य, गर्ग, विष्णु, कौडिन्य, शेष, उद्धव, आरूणि, बलि, हनुमान, विभीषण आदि भक्ति के आचार्य भक्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं।[127] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नारदभक्ति-सूत्र में भक्ति का जो स्वरूप उद्घाटित हुआ है वह भक्तिपरक रहस्यवाद के आदर्श स्वरूप को प्रस्तुत करता है। नारद द्वारा प्रवर्तित परमप्रेम रूपा भक्ति की उपलब्धि कर व्यक्ति तृप्त हो जाता है। आत्माराम हो जाता है। उसे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं रहती है, वह अमृत हो जाता है। इसी भावभूमि को रहस्यवादी अनुभूति कहते हैं। इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि परमप्रेमरूपा भक्ति स्वयं फलरूपा होती है, इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। ब्रजगोपिकाओं की भक्ति इसका उदाहरण है । यह भक्ति अन्य साधनों—कर्म, ज्ञान, योग से भी श्रेष्ठ होती है। भगवान् की कृपा के लेशमात्र से ही इसकी प्राप्ति होती है। इस प्रेम का स्वरूप अनिवर्चनीय होता है, मूकास्वादनवत् होता है। इस प्रेमाभक्ति को पाकर व्यक्ति इसी का अवलोकन, श्रवण, चिन्तन-मनन करता है। इस भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया आदि के आधार पर भेद संभव नहीं है। अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिक्य आदि इसके साधन हैं। इस प्रकार सर्वदा सर्वभावेन भगवान् का भजन करना चाहिए।

भक्ति आन्दोलन के सम्प्रदायों में सामान्य रहस्यवाद

भक्ति आन्दोलन के क्रम में विविध दार्शनिक संप्रदायों का उद्भव हुआ। इन संप्रदायों द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक आन्दोलन के महान् प्रतिनिधि थे—रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य। भक्ति आन्दोलन के लिए शंकराचार्य का मत प्रतिस्पर्धात्मक था, अतः कुछ हद तक अरहस्यवादी। किन्तु यह भी द्रष्टव्य है कि शंकराचार्य ने भक्ति का तिरस्कार नहीं किया, प्रत्युत अपने निरपेक्ष, निर्गुण (अद्वैत) मत में भक्ति को भी समाविष्ट कर लिया। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य जिन्होंने तीन महान् दार्शनिक विचारों से संबद्ध संप्रदायों की स्थापना की, ने पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त तक अपने महान् प्रभाव को अक्षुण्ण रखा। यह भी कहा जा सकता है कि इन्होंने शंकराचार्य के माया सिद्धान्त का विरोध किया। इन आचार्यों ने वेदान्त पद्धति में भक्ति को एक अनिवार्य तत्व माना। इसके अनन्तर प्रो० रानडे ने लिखा है कि यद्यपि वल्लभाचार्य ने एक दार्शनिक ऐकेश्वरवाद का उपदेश किया था, रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य यह न समझ सके कि कैसे ईश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद को रहस्यवाद में समाहित किया जा सकता है। रहस्यवाद की इसी एकीकरण प्रवृत्ति की ओर ईश्वरवाद और सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त निर्माताओं द्वारा ध्यान नहीं दिया गया। रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य के संप्रदायों द्वारा महान्

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ जो भारत के विभिन्न भागों में तेरहवीं शती से प्रारंभ होकर आगे तक पल्लवित होता रहा।[128]

यह दृष्टव्य है कि अपनी जन्मभूमि में ही रामानुजाचार्य का प्रभाव क्षीण हो गया, लेकिन वही अधिकाधिक वेग के साथ उत्तर भारत में प्रस्फुटित हुआ। स्वामी रामानन्द, जो रामानुजाचार्य के दार्शनिक उत्तराधिकारी थे, अपने आध्यात्मिक गुरु से वैमत्य स्थापित करके काशी में आकर रहने लगे। प्रो० रानडे का विचार है कि स्वामी रामानंद से ही तीन महान रहस्यवादी संप्रदायों (स्कूल्स) का उद्भव हुआ। पहला था तुलसीदास का संप्रदाय, दूसरा कबीर का संप्रदाय तथा तीसरा नाभाजी का संप्रदाय। यहाँ प्रो० रानडे ने यह भी संकेत किया है कि कबीर सूफीमत से भी प्रभावित थे। तुलसीदास राम की ऐतिहासिक-मिथकीय कहानी से बहुत अधिक प्रभावित थे। नाभाजी हिंदी के महान् सन्तों की कृतियों का इतिवृत्त तैयार करने लगे। मध्वाचार्य के संप्रदाय से बंगाल के संत महाप्रभु चैतन्य का उद्भव हुआ जो चन्डीदास और विद्यापति से भी प्रभावित थे। वल्लभाचार्य ने गुजरात में अपना प्रभाव क्षेत्र विस्तृत किया, मीराबाई और नरसी मेहता ने इनके उपदेशों से प्रभावित होकर अपने को खड़ा किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दार्शनिक सम्प्रदायों से प्रजातांत्रिक रहस्यवाद का जन्म हुआ जिसमें लोकभाषा को रहस्यवादी उपदेशों का माध्यम बताया गया। एक तरह से यह शास्त्रीय (क्लासिकल) रहस्यवाद के विरोध स्वरूप था जिसमें संस्कृत ही अभिव्यक्ति का माध्यम थी। वस्तुतः भाषा में ही नहीं, बल्कि उपदेश के मूलस्वरूप में भी यह रहस्यवाद प्रजातान्त्रिक था। इस काल में आकर रहस्यवाद सर्वसुलभ बना दिया गया। प्रो. रानडे ने अंत में लिखा है कि इसी प्रकार हिंदी, बंगला, गुजराती का रहस्यवादी साहित्य रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य के तीन महान् संप्रदायों द्वारा प्रभावित हुआ।[129]

रामानुजाचार्य श्री संप्रदाय के, मध्वाचार्य ब्रह्म संप्रदाय के, विष्णु स्वामी रूद्र संप्रदाय के तथा निम्बार्काचार्य सनक संप्रदाय के प्रवर्तक माने गये हैं। रामानुजाचार्य के मत का दार्शनिक नाम विशिष्टाद्वैत है। भगवान् एवं जीव का सम्बन्ध इन्होंने सेव्यसेवक के रूप में स्वीकार किया। नारायण उपास्य हुए जिनके प्रति आत्मसमर्पण करना श्रेष्ठ साधना है। मध्वाचार्य द्वारा प्रवर्तित मध्व संप्रदाय दक्षिण भारत का दूसरा उल्लेख्य संप्रदाय है जिसके द्वारा भक्ति भावना को विशेष बल मिला।[130]

श्री निम्बार्काचार्य (1162 ई०) सनक संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इनके सिद्धान्त का नाम द्वैताद्वैत है। निम्बार्क ने भी प्रपत्ति के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया है। उत्तर भारत में राधाकृष्ण की भक्ति का सर्वप्रथम प्रचार करने वाले आचार्य निम्बार्क ही थे। रूद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी माने जाते हैं। महाप्रभु वल्लभाचार्य के संपर्क से रूद्र संप्रदाय को नवीन स्फूर्ति और शक्ति मिली। गोपाल कृष्ण इनके उपास्य

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कुल देवता थे। महाप्रभु ने बड़े ही व्यस्थित ढंग से भक्ति सिद्धान्त की व्याख्या की। कहा जाता है कि वैदिक काल से चली आ रही भक्ति की परंपरा का शास्त्रीय ढंग से उन्नयन किया। इनके सिद्धान्त का नाम शुद्धाद्वैत था। शंकराचार्य ने निर्गुण ब्रह्म की स्थिति को स्वीकार किया था, परन्तु महाप्रभु ने कहा कि ब्रह्म एक ही समय में निर्गुण भी रहता है और सगुण भी। वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धांत भगवद्‌गीता के बिलकुल अनुकूल हैं। इनके अनुसार पुष्टिमार्ग ही भगवद्कृपा का साधन है। उन्होंने पुष्टिमार्ग, प्रवाहमार्ग और मर्यादामार्ग की सुंदर विवेचना की। उन्होंने मर्यादामार्ग को वैदिक मार्ग बताया जो अक्षरब्रह्म की वाणी से उत्पन्न है। लेकिन पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरूषोत्तम के शरीर से ही निकला है। अतः केवल भक्त ही इस पुरुषोत्तम के अधिकारी हैं। मर्यादा भक्ति में फल की इच्छा रहती है जिसमें भक्त सायुज्य भक्ति को चाहता है। पुष्टिमार्गी केवल भक्ति चाहता है। यह भक्ति वर्ण, जाति, देश, सम्प्रदाय आदि भेदों से परे होती है। अतः यह सर्वथा सुलभ और सरल मार्ग की भक्ति है। इस प्रकार पुष्टिमार्गीय भक्ति का महाप्रभु ने शास्त्रीय विवेचन किया है। इस भक्ति में किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती है। भक्तों पर कृपा करने के लिए ही भगवान अपनी लीला का विधान करते हैं। अतः भगवान् के अनुग्रह से ही रागानुगा भक्ति की प्राप्ति होती है।[131]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ये सम्प्रदाय दार्शनिक थे। विभिन्न आचार्यों ने, जैसे रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य आदि, अपने-अपने मतों की दार्शनिक व्याख्याएँ प्रस्तुत की, लेकिन उन सबके द्वारा इन्होंने भक्ति का ही प्रचार किया। इनके दार्शनिक मतों के प्रवर्तन से वैष्णव भक्ति का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हुआ। एक ओर रामभक्ति का, तो दूसरी ओर कृष्णभक्ति का प्रचार हुआ। इससे यह भी स्पष्ट है कि इन दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रवर्तन से प्रजातांत्रिक रहस्यवाद का जन्म हुआ अर्थात् भक्तिपरक रहस्यवाद का खूब प्रचार-प्रसार हुआ। इस प्रजातांत्रिक रहस्यवाद में लोकभाषा अर्थात् जनभाषा को रहस्यवादी शिक्षाओं का माध्यम बनाया गया। अवधी और ब्रजभाषा आदि में रहस्यवादी रचनाएँ प्रस्तुत की गयी। भक्ति सबके लिए सुलभ हो गयी जिसमें जाति, वर्ण आदि के आधार पर कोई भेद नहीं किया गया। प्राचीन शास्त्रीय रहस्यवाद से यह प्रजातांत्रिक रहस्यवाद कई अर्थों में भिन्न था। जैसे, शास्त्रीय रहस्यवाद की भाषा संस्कृत थी, लेकिन इसकी भाषा जनभाषा थी । शिक्षा के मूल स्वर में भी यह शास्त्रीय रहस्यवाद से भिन्न था। भक्ति आंदोलन के क्रम में उत्पन्न रहस्यवाद वस्तुतः प्रजातांत्रिक था अर्थात् उसका मार्ग प्रत्येक जन के लिए खुला हुआ था। उसमें निम्न जाति के व्यक्ति भी ग्राह्य हुए। यही कारण है कि कबीर, रैदास आदि रहस्यवादी उसके फलस्वरूप हमारे सामने आये। इस प्रकार जो रहस्यवाद प्राचीनकाल में उच्च वर्ग के लोगों के लिए ही था, इस काल में सर्वसुलभ बना दिया गया । अभिव्यक्ति का माध्यम

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भी प्रजातांत्रिक ही था। यह भी द्रष्टव्य है कि इन उपर्युक्त आचार्यों द्वारा भक्ति का बहुमुखी विकास हुआ। दास्य, सख्य, वात्सल्य, कांताभाव की भक्ति का खूब प्रचार हुआ। माधुर्यभाव की भक्ति का भी खूब पल्लवन हुआ। रामानंद ने भगवान् के शील, शक्ति और सौंदर्य से समन्वित भक्ति की शिक्षा दी जिसका स्पष्ट रूप तुलसी के रामचरितमानस में दिखाई देता है। इस प्रकार एक ओर तो सगुण साकार, अवतारधारी रामकृष्ण की भक्ति का प्रचार हुआ, तो दूसरी ओर निर्गुण-निराकार की भक्ति भी प्रवर्तित हुई जो कबीरादि संतों में देखने को मिलती है।

नास्तिक परंपरा में रहस्यवाद

प्रस्तुत विषय की दृष्टि से नास्तिक परम्परा में विकसित बौद्ध धर्म और जैन धर्म के महत्व का भी आकलन किया जाता है। कुछ विद्वान् बौद्धधर्म एवं जैनधर्म पर रहस्यवाद की दृष्टि से विचार नहीं करते हैं। फिर भी उनमें रहस्यवादी स्थितियों के दर्शन किये जा सकते हैं।

बौद्ध रहस्यवाद

भारतीय धर्म निगमागममूलक है। आस्तिक और नास्तिक इसकी दो परम्पराएँ स्वीकार की गयी हैं। आस्तिक परंपरा में विकसित होने वाले धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय विश्व में परमतत्व की सत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं अर्थात् उन सबमें सर्वदेववाद, विश्वदेववाद, सर्वात्मवाद आदि की धारणाएँ विविध रूपों में देखने को मिलती हैं। भारतीय रहस्यवाद के आस्तिक परंपरान्तर्गत विकसित होने वाले धर्म संप्रदायों में यह बात विशेषरूप से कही जा सकती है; किन्तु नास्तिक परम्परा में विकसित होने वाले धर्म संप्रदायों में रहस्यवाद का विचार ही विवाद का विषय है। कहा जाता है कि स्वयं गौतमबुद्ध शुरू में सभी शिक्षाओं द्वारा कुछ पाने के लिए उत्सुक थे; लेकिन मूलतः बौद्धधर्म ज्ञान की अलौकिक ऊँचाइयों को पाने के लिए सभी एकान्त तपस्याओं और गुह्य प्रयत्नों (साधनाओं) का विरोधी था। इसमें कोई रहस्यपूर्ण अथवा गुह्य साधना-पद्धति नहीं थी। स्वयं बुद्ध रहस्यवाद जैसी किसी वस्तु के विरोधी थे। अतः यद्यपि प्रारंभिक बौद्धधर्म में रहस्यवादिता के लिए कोई स्थान नहीं था; फिर भी निरपेक्ष ध्यान की प्रक्रिया ने उसमें रहस्यवादी विचारों के विकास को अंततः उत्साहित ही किया।[132]

गौतमबुद्ध किसी भी अर्थ में अध्यात्मवादी नहीं थे और न निरपेक्ष आत्मा के शाश्वत अस्तित्व में उनका विश्वास ही था। उनकी दृष्टि में सृष्टि का उद्भव किसी सर्वशक्तिमान आत्मा वा मन से नहीं हुआ और न किसी शाश्वत अस्तित्वसंपन्न बीज से ही सृष्टि हुई। भौतिक शरीर से भिन्न किसी अदृश्य आत्मा के चिर अस्तित्व में बुद्ध का विश्वास नहीं था। वास्तविक बौद्धधर्म की चिरंतनता अस्तित्वों की चिरंतनता ('होने' की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

शाश्वतता-इटर्निटी आफ बिकमिंग) में निहित थी जिनका समापन शून्य में होता था।[133] बुद्ध का उद्देश्य तर्क द्वारा अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को सुलझाना नहीं था, प्रत्युत इस क्लेश-बहुल संसार के प्रपंच से मुक्ति पाने के लिए सरल आचार-मार्ग का निर्देश करना ही वस्तुतः उनका मुख्य लक्ष्य था। अपने शिष्यों द्वारा अध्यात्म विषयक अनेक प्रश्नों के पूछे जाने पर बुद्ध के मौन-धारण का यही रहस्य है। बुद्ध की दृष्टि में भवरोग के रोगी को अध्यात्म से कोई मतलब नहीं होना चाहिए। उसे तो कर्तव्यमार्ग की रूपरेखा का जानना ही आवश्यक है। अतः उन्होंने कर्तव्यशास्त्र के विषय में चार आर्यसत्यों का रहस्योद्घाटन किया—(1) दुःखम्—इस संसार का जीवन दुःखपूर्ण है; (2) दुःख समुदयः—इन दुखों के कारण विद्यमान हैं; (3) दुःखनिरोध—इन दुःखों से वास्तविक मुक्ति मिल सकती है; (4) दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपत्—इस दुःखनिरोध की प्राप्ति के लिए उचित मार्ग या उपाय अर्थात् निर्वाण-मार्ग है।[134]

बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा की शिक्षा दी। उन्होंने सुख- समृद्धि में जीवन यापन करनेवाले सुखमार्गियों और घोर ब्रताचरण से इस कांचन काया को सुखाकर कांटा बना देने वाले तापसों के जीवन को निर्वाण के लिए सहायक नहीं माना। बुद्ध ने सुख एवं दुःख दोनों छोरों को छोड़कर मध्यममार्ग (मध्यमा प्रतिपदा) को ढूंढ़ निकाला। इस मार्ग (प्रतिपद्) को आर्य अष्टांगिक–मार्ग भी कहा गया है जो इस प्रकार है—(1) सम्यक् ज्ञान (आर्य सत्यों का तत्वज्ञान), (2) सम्यक् संकल्प (दृढ़निश्चय), (3) सम्यक् वचन (सत्य वचन), (4) सम्यक् कर्मान्त (हिंसा, द्रोह, दुराचरण-रहित कर्म), (5) सम्यक् आजीव (न्यायपूर्ण जीविका), (6) सम्यक् व्यायाम (बुराइयों को न उत्पन्न होने देना तथा कल्याण के लिए सतत् उद्योग करना), (7) सम्यक् स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना आदि के अशुचि अनित्य रूप की उपलब्धि और लोभादि चित्त संलाप से अलग हटना), (8) सम्यक् समाधि (रागद्वेषादि द्वन्द्व के विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता)। उपर्युक्त आर्य अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है। प्रज्ञा के उदय के साथ ही निर्वाण की सद्यः प्राप्ति होती है।[135] बुद्ध दर्शनों में तीन साधन बताये गये हैं– शील, समाधि और प्रज्ञा । ये बुद्ध की शिक्षाओं के सार रूप हैं। शील से तात्पर्य समग्र सात्विक कर्मों से है। समाधिक द्वारा पूर्वार्जित पापकर्म और इच्छाएँ नष्ट हो जाती हैं और प्रज्ञा की प्राप्ति होती है। प्रज्ञा द्वारा अंतिम लक्ष्य अर्थात् निर्वाण की उपलब्धि होती है जिसमें सभी दुःखों और बुराइयों का निरोध हो जाता है।[136]

बुद्ध ने अनेक साधना पद्धतियों की परीक्षा करने के उपरान्त अंत में सत्य की उपलब्धि के लिए योगमार्ग को ग्रहण किया। इस योग मार्ग द्वारा ही उन्होंने अंततः सत्य के दर्शन किये। बुद्ध का योगमार्ग पातंजलयोग के सदृश ही था। दोनों का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

योगमार्ग बहुत प्राचीनकाल से ही यहाँ प्रचलित था। लेकिन बुद्ध और पातंजल योग में सैद्धांतिक अंतर था। बुद्ध के सभी ध्यान, समाधि (शील, समाधि और प्रज्ञा) का प्रधान लक्ष्य था निर्वाण (एब्सोल्यूट एक्सटिंक्शन); जबकि पतंजलि का उद्देश्य था आत्मप्रदीप्ति के रूप में आत्मा की मुक्ति। वस्तुतः बौद्ध निर्वाण की चरम रहस्यवादी अवस्था को संतोषप्रद ढंग से वर्णित करना बहुत ही कठिन है। एक अर्थ में यह निरपेक्षतः सार रहित है। यह (निर्वाण) सभी दुःखों और सभी सुखों से परे की अवस्था है। यह सभी भौतिक प्रक्रियाओं से निरपेक्ष विच्छेद की अवस्था है। यह एक परमानन्दपूर्ण अवस्था है जिसमें परमानन्द और परमानन्द के भोक्ता में कोई अंतर नहीं होता है। निर्वाण का यह रहस्यवादी परमानन्द बुद्धि द्वारा अगम्य है।[137]

हिन्दुओं के मतानुसार उपर्युक्त अवस्था में अर्थात् परमानन्द की अवस्था में मात्र आत्मज्योतित आत्मा की ही स्थिति होती है। बौद्ध यह नहीं बताते कि इस अवस्था में किस वस्तु का अस्तित्व होता है, क्योंकि वे आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। लेकिन हिन्दुओं की शिक्षा कदाचित् अधिक ग्राह्य होती है, आत्मज्योतित आत्मा उस अवस्था का एक भावात्मक प्रकाशन है। नेति-नेति की नकारात्मक पद्धति को छोड़कर यह आत्मा निर्वाण की अवस्था के सदृश ही अवर्णनीय है। बौद्धों के लिए उक्त अवस्था वस्तुतः अमर और परमानन्दपूर्ण मानी जाती है; क्योंकि यही बौद्धों के लिए सभी दुःखों का अंतिम लक्ष्य, उनके सभी आध्यात्मिक उद्योगों का उद्देश्य और आध्यात्मिक पूर्णता की पराकाष्ठा है। अपने प्रकृतरूप में निर्वाण निरपेक्षतः अतर्क्य है, अवर्णनीय है। बौद्ध रहस्यवाद परमसिद्धि और परमनिर्वापन के सदृश निर्वाण की आध्यात्मिक सत्वरहित अवस्था में विश्वास की भावना से सम्पन्न है जिसकी उपलब्धि तृष्णाओं के पूर्ण निर्वापन और योग साधना के बुद्धि से अतीत ज्ञान से हो सकती है।[138] ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि, डॉ. दासगुप्त निर्वाण की अवस्था को ही बौद्धों के रहस्यवाद के रूप में स्वीकार करते हैं; क्योंकि उक्त अवस्था की उपलब्धि योगाभ्यास द्वारा ही होती है। इसमें सभी भौतिक इच्छाओं, क्रियाओं, सुखों एवं दुःखों की स्थिति का समापन हो जाता है। वस्तुतः निर्वाण की अवस्था सुख-दुख-विनिर्मुक्त परमानन्द की दशा है जो बौद्धों के सभी आध्यात्मिक प्रयत्नों का अंतिम लक्ष्य है।

बौद्ध योग और पातंजल योग दोनों के लिए तपस् एक अपरिहार्य तत्व है। इच्छाओं का क्रमिक दमन, जब तक उनका चरम निर्वापन (निर्वाण, समापन) नहीं हो जाता, योगमार्ग और बौद्धधर्म दोनों के लिए अनिवार्य है। बुद्ध ने जिस प्रज्ञा की उपलब्धि की, वह तार्किक विचारों की प्रकृति की प्रतीत होती है; लेकिन उक्त प्रज्ञा द्वारा प्राप्त लक्ष्य रहस्यात्मक, अप्रकाश्य, सत्वरहित (आध्यात्मिक सत्व या अस्तित्व से रहित) निर्वाण ही है। यह द्रष्टव्य है कि जिस प्रत्यक्ष साधन द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है, उसका सम्बन्ध किसी तार्किक विचारणा अथवा शास्त्र आदि से नहीं होता। वस्तुतः सभी इच्छाओं का समापन अर्थात् तृष्णाक्षय ही वह साधन है जिसके द्वारा उपर्युक्त रहस्यात्मक निर्वाण की प्राप्ति होती है।[139] सर मोनियर विलियम्स ने बौद्धधर्म की रहस्यवादिता की संभावनाओं पर विचार करते हुए लिखा है कि परवर्ती योग और शैवधर्म के साथ बौद्धधर्म का साहचर्य होने से यह स्वाभाविक था कि स्वयं बुद्ध भी अतिप्राकृतिक और रहस्यवादी विचारों के विकास का एक केन्द्र बन गये होते।[140] इसके आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। यथा, बौद्धधर्म में रहस्यवाद का पदार्पण अवश्यम्भावी था जो बाद में चलकर स्पष्ट रूप से सामने आया। यह हो सकता है कि दृष्टि में प्रारंभिक बौद्धधर्म में रहस्यवाद न रहा हो, क्योंकि स्वयं बुद्ध ही अनात्मवादी और अनीश्वरवादी थे। इतना तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि परवर्ती योग और शैवधर्म के साहचर्य में आकर बौद्धधर्म भी रहस्यवादी बन गया।

हीनयान और महायान बौद्धधर्म के ही दो रूप हैं। हीनयान अर्हत् की प्राप्ति के लिए उद्योगशील रहता है, महायान बोधसत्य की उपलब्धि को अपना आदर्श मानता है। स्वयं अपने ही निर्वाण की प्राप्ति के लिए अर्हत् सर्वदा तत्पर रहता है। अष्टसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता के अनुसार हीनयानी एक आत्मा का दमन करना चाहता है। वस्तुतः एक आत्मा को ही निर्वाण की प्राप्ति करना उसका मुख्य लक्ष्य होता है। इसी लक्ष्य की ओर उसकी सारी शिक्षा, उसकी समग्र साधना अग्रसर रहती है। दूसरी ओर बोधिसत्व का लक्ष्य हीनयानी लक्ष्य से भिन्न और बृहत्तर होता है। बोधिसत्व केवल अपने को ही निर्वाण में प्रतिष्ठित करना नहीं चाहता, प्रत्युत समस्त प्राणियों को परमार्थ सत्य निर्वाण में स्थापित करना चाहता है। इस प्रकार हीनयान कोरा निवृत्तिमार्ग है तथा महायान प्रवृत्तिमार्गी धर्म है। हीनयान में साधन के रूप में केवल ज्ञान की ही प्रधानता है, किन्तु महायान में भक्ति की विशिष्टता द्रष्टव्य है। महायान में बुद्ध की मूर्ति की स्थापना तथा भक्ति द्वारा उसकी पूजा अर्चना का प्रमुख स्थान है। कहा जाता है कि महायान संप्रदाय ने निरीश्वरवादी निवृत्तिप्रधान हीनयान का रूप परिवर्तित कर उसे प्रवृत्तिप्रधान और भक्तिभावान्वित बनाकर सभी मनुष्यों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर दिया। हीनयान में शुष्कज्ञान का ही प्राधान्य था, किंतु महायान ने भक्तिभाव को ग्रहण कर जीवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के स्वाभाविक विकास के लिए अवसर दिया। इसी तरह बौद्धधर्म का विकास अवान्तर शताब्दियों में भी होता रहा। कहा जाता है कि वैपुल्यवादियों ने मंत्र-तंत्र में विशेष अभिरूचि दिखायी थी जिनके प्रधान आचार्य तांत्रिकशिरोमणि नागार्जुन की गुह्य शिक्षाओं ने महायान की कायापलट कर दी। मंजुश्रीमूलकल्प में मंत्र-तंत्रों का पर्याप्त विधान किया गया है। भोट ग्रंथों के अनुसार धान्यकटक और श्रीपर्वत के प्रांत में मंत्रयान का उदय हुआ। इसी मंत्रयान से बाद में

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

वज्रयान का उदय हुआ। वज्रयान संप्रदाय से मद्य, मंत्र, हठयोग आदि तांत्रिक आचारों का पर्याप्त प्रचार हुआ। अविनाशी, अच्छेद्य और अभेद्य होने के कारण शून्यता वज्र का वाच्यार्थ है। शून्यवाद ही वज्रयान की दार्शनिक दृष्टि है, परन्तु वज्रयान के आचार में तांत्रिक क्रियाकलाप की ही बहुलता है। इस प्रकार वज्रयान को तांत्रिक बुद्धधर्म का विकसित रूप माना गया है। इसी वज्रयान का परिवर्तित रूप सहजयान है।[141]

माध्यमिक संप्रदायवादियों के अनुसार शून्य ही परमार्थ सत्य है। यह शून्य कोई अभाववादी शब्द न होकर अनिर्वचनीय तत्व का द्योतक है, जो न सत् है, न असत् है, न सद्सद् है और न इन दोनों से भिन्न है। इन चारों कोटियों से भिन्न तथा विलक्षण होने के कारण इस परमार्थ सत्य को शून्य कहते हैं। निःस्वभाव, अनिर्वचनीय अलक्षण आदि शब्दों द्वारा निरूपित 'शून्य' को ही बौद्धदर्शन में परमतत्व कहते हैं। इस स्थान पर पहुँचना ही बौद्ध साधना का अंतिम लक्ष्य है।[142] नागार्जुन के (माध्यमिक कारिका) अनुसार जो अज्ञात है (अर्थात् साधारण उपायों द्वारा अविदित होता है), जिसकी प्राप्ति नयी नहीं होती (अर्थात् जो सर्वदा प्राप्त होता है), जिसका विनाश नहीं होता, जो निरुद्ध नहीं है और जो उत्पन्न भी नहीं है, उसे ही निर्वाण कहते हैं। जो निर्वाण को यथार्थ रूप से जानता है वह व्यक्ति ही तथागत (बुद्ध) है; अतः तथागत का स्वरूप भी निर्वाण के सदृश ही वर्णनातीत है। शून्य तथा निर्वाण तत्व त्रिकाल में अबाधित होने से परमार्थरूप माने जाते हैं। उक्त तत्व का प्रत्यक्षीकरण योगिजनों द्वारा ही संभव है। हीनयानी मतानुसार जब भिक्षु अर्हत् की दशा को प्राप्त कर लेता है, तब उसे निर्वाण की उपलब्धि होती है। निर्वाण वह मानसिक दशा है जिसमें भिक्षु संसार के सभी प्राणियों से अपना विभेद नहीं कर सकता। वस्तुतः उसके व्यक्तितत्व का लोप हो जाता है तथा वह सब प्राणियों में एकत्व का दर्शन करने लगता है, सभी जीवों के एकत्व की भावना से उसका हृदय आप्लावित हो उठता है। सामान्यतः यही हीनयानी निर्वाण की कल्पना है। महायानी निर्वाण की कल्पना इससे नितान्त भिन्न हैं। महायानी मतावलंबी धर्मों की सत्ता नहीं मानते। उनकी दृष्टि में केवल धर्मकाय या धर्मधातु ही सत्य है। बुद्ध के अतिरिक्त सभी प्राणी कल्पना जाल में पड़े हैं। पुत्र एवं धनवाला व्यक्ति उसी प्रकार भ्रान्त है, जिस प्रकार सुख और शांति के सूचक निर्वाण का आकांक्षी हीनयानी अर्हत्। हीनयान के अनुसार निर्वाण ही परमसत्ता है, उसके (निर्वाण के) अतिरिक्त संसार के सभी पदार्थ कल्पना प्रसूत हैं। जिस क्षण व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि वही सत्य है, संसार निर्वाण से पृथक् नहीं है (अर्थात् दोनों एक ही हैं), उस क्षण वह व्यक्ति बुद्धत्व की उपलब्धि कर लेता है। इसके लिए मात्र अपने आत्मत्व की भावना को समाप्त करने से कुछ होने वाला नहीं है। इसके विपरीत जिस वस्तु को वह व्यक्ति देख रहा है वह भी आत्म शून्य है। इसका ज्ञान भी अत्यावश्यक है। जब ऐसे ज्ञान की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपलब्धि हो जाती है, तब निर्वाण की प्राप्ति होती है। यही महायानी निर्वाण की कल्पना है।[143]

कुछ पश्चिमी विचारकों ने बौद्धमत में रहस्यवाद की स्थिति को स्वीकार नहीं किया है। 'इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स' में बताया गया है कि रहस्यवाद की सीमित परिभाषा के अनुसार रहस्यवाद का तात्पर्य है वैयक्तिक (सगुण साकार) अथवा अवैयक्तिक (निर्गुण-निराकार) परमतत्व के साथ प्रत्यक्ष, तर्करहित, प्रातिभ सम्बन्ध। चूंकि कट्टर बौद्धमत की दृष्टि से, चाहे वह हीनयान हो अथवा महायान, किसी परमतत्व की सत्ता स्वीकार्य नहीं है, इसलिए बौद्धमत में रहस्यवाद का कोई स्थान नहीं है। किंतु रहस्यवाद की कम सीमित परिभाषा भी द्रष्टव्य है जो अपने में अति बौद्धिक प्रतिभाओं और अभ्यासों के सभी क्षेत्रों (पहलुओं) को समाविष्ट कर लेती है और जिसके द्वारा परमबौद्धिक अथवा अतिबौद्धिक लक्ष्य की प्राप्ति होती है। रहस्यवाद का तात्पर्य विविध अवस्थाओं के विलक्षण ब्रह्माण्डशास्त्रीय सिद्धांतों से भी है जिसके द्वारा जीवात्मा परमतत्व तक पहुंचती है। इस प्रकार रहस्यवाद की कम संकुचित परिभाषा के अनुसार अतिबौद्धिक साधनों द्वारा, जैसे विचारों की एकाग्रता के उपाय, ध्यान-समाधि, आनन्दावस्था आदि, किसी अतिबौद्धिक लक्ष्य की प्राप्ति को भी रहस्यवाद के नाम से अभिहित किया जाता है, यद्यपि इसमें रहस्यवाद के मूल तत्व, परमतत्व के साथ प्रत्यक्ष, प्रातिभ सम्बन्ध का अभाव दिखायी देता है। यह भी द्रष्टव्य है कि बौद्धमत प्रत्येक सकारात्मक और वास्तविक परमतत्व को अस्वीकार करता है तो भी इसका एक पूर्णलक्ष्य है, अर्थात् नैमित्तिक (कांटिजेंट) का, सकारण सत्ता (संस्कृत) का विनाश और कारणरहित (अनकाज्ड असंस्कृत) की उपलब्धि। बौद्धमत का शून्यता में समाहित होना वेदांत के एकमेव ब्रह्म में समाहित होने का समानार्थी है। जहाँ तक सापेक्ष अथवा नैमित्तिक का सम्बन्ध है, बौद्धमत भी अद्वैतवाद से सहमत है। वस्तुतः बौद्ध साहित्य में बौद्धों का निर्वाण रहस्यवादी शब्दावली में वर्णित हुआ है।[144] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रहस्यवाद की कम संकुचित परिभाषा की दृष्टि से बौद्धमत में रहस्यवाद की स्थिति को स्वीकार किया जा सकता है। यह भी स्पष्ट है कि बौद्ध साहित्य में निर्वाण का रहस्यवादी शब्दावली में वर्णन हुआ है।

एफ०सी० हैपोल्ड ने भी इसी प्रकार बौद्ध रहस्यवाद के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त किया है। हैपोल्ड के अनुसार भी निर्वाण का वर्णन रहस्यवाद की भाषा में हुआ है। निर्वाण शुद्ध रूप से एक रहस्यवादी धारणा है जो अग्राह्य और अवर्णनीय है। निर्वाण मात्र रहस्यवादी प्रतिभा द्वारा ही साक्षात्कृत हो सकता है। बौद्ध रहस्यवाद ईश्वरपरक रहस्यवाद नहीं है। हैपोल्ड के अनुसार बौद्धमत ईश्ववरवादी है अथवा अनीश्वरवादी, इसका उत्तर 'हाँ' अथवा 'नहीं' में स्पष्टतः नहीं दिया जा सकता। वस्तुतः

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

बौद्धमत में कोई वैयक्तिक ईश्वर (सगुण ईश्वर) नहीं है जिसके साथ व्यक्ति संगम कर सके। यदि कोई बौद्ध रहस्यवाद की अभिधा देना ही चाहता है तो हैपोल्ड के अनुसार इसे विश्लेषणात्मक आत्मा-रहस्यवाद (एनालिटिकलसोल-मिस्टिसिज्म) कह सकता है क्यों कि इसका आधार पूर्णतया विश्लेषणात्मक और वैज्ञानिक है।[145] हैपोल्ड की यह अभिधा तब तक स्वीकार नहीं हो सकती जब तक उनकी सोल की परिभाषा सामने नहीं आती।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि बौद्धमत का रहस्यवाद आचार प्रधान है। उसका मुख्य आग्रह आचार अथवा संयम (अथवा एथिक्स) पर है। ऊपर देखा गया है कि कट्टर हीनयान में वैयक्तिकता की प्रधानता है । यों महायान में प्रथमतः साधना वैयक्तिक है, किंतु अंततः महाकरुणा के कारण विश्वगत है। शुद्धाचारपूर्ण महायान के अंतर्गत इस आचार प्रधान रहस्यवाद को स्वीकार किया जा सकता है जिसमें पारमार्थिक चित्त की महाप्रज्ञाप्राप्ति अथवा सांसारिक वस्तुओं की नश्वरता के सत्य का साक्षात्कार ही प्रमुख है। इस अंतिम विशेषता के आधार पर यह ज्ञानात्मक रहस्यवाद कहा जा सकता है, क्योंकि उक्त आचार का लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति ही है। निर्वाण का सुखात्मक स्वरूप स्वीकृत हो जाने के अनन्तर महायान एक ऐसे आचार प्रधान ज्ञानात्मक रहस्यवाद के रूप में विकसित होता है जिसमें व्यक्ति प्रज्ञाप्राप्ति के बाद महाकरुणा को चरितार्थ करते हुए महासुख की अनुभूति करता है। स्पष्टतः इसे बोधिसत्व का आदर्श कह सकते हैं। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर बौद्धमत को उदार आत्मोन्मुख रहस्यवाद के नाम से अभिहित किया गया है जो कुछ अंशों में ठीक है। यहाँ हैपोल्ड 'आत्म' शब्द का अर्थ 'अपना' लेते प्रतीत होते हैं। इस दृष्टि से आत्मोन्मुख रहस्यवाद का अर्थ होगा आत्मकेन्द्रित रहस्यवाद जिसमें साधक अपनी उन्नति अथवा अनुभूति को ही अपना लक्ष्य मानता है। लेकिन तांत्रिक महायानमत अथवा महायान के तांत्रिक विकासों के सम्बन्ध में यह बात स्वीकार नहीं है, क्योंकि बौद्धमत के इस रूप को वस्तुतः हिन्दू बौद्धधर्म-मत कह सकते हैं। कुछ विद्वान् महायान बौद्धधर्म को ही प्रकारांतर से हिन्दू बौद्धमत की संज्ञा प्रदान करते हैं। विद्वानों ने तो व्यवहारतः बज्रयान को भी बौद्ध-वेश में हिंदू अथवा हिंदू बौद्धधर्म या शैवमत कहा है। 'ओं मणिपद्मे हूं' जैसे इसके प्रमुखतम मंत्र भी शुद्ध अद्वैतवाद के उद्घोषक माने गये हैं। वज्रयान में हिन्दू तांत्रिकों के समान ही समरस की भावना प्रचलित है जिसका तात्पर्य है विश्व की अनेकता में एकता की प्राप्ति अथवा सर्वव्यापी सुख के अनूठे प्रवाह में एक परम सुख का साक्षात्कार। हेवज्रतंत्र में कहा गया है कि सहजावस्था में प्रजा और उपाय की अभेदता रहती है। उस समय किसी का पृथक् प्रत्याभिज्ञान नहीं होता। हिन्दू तंत्रों का सामरस्य भी संयोग अथवा शिवशक्ति के भावैकरसत्व की ओर संकेत करता है। यह बौद्ध तंत्रों में यौन-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यौगिक साधना से उदित अद्वयत्व की ओर संकेत करता है। हिन्दू तंत्रों के समान ही बौद्ध तंत्रों में भी, बहत्तर हजार नाड़ियों और उनमें प्रधान बत्तीस नाड़ियों तथा उन बत्तीस नाड़ियों में भी प्रमुख तीन नाड़ियों की समतुल्य कल्पना मिलती है। इनकी शरीरिक स्थिति भी समान है—(ललना, रसना, अवधूती = इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना = वाम, दक्षिण, मध्य)[146]

तांत्रिक बौद्धमत में परवर्ती काल में विकसित कालचक्रयान का कालचक्र स्पष्टतः हिंदू धारणा है। कालचक्र परमसत्यभूत, अक्षर, आदि बुद्ध का द्योतन करता है। वस्तुतः कालचक्र पदतः परमतत्व का द्योतक है।[147] वज्रयान के अंतर्गत आदि बुद्ध-सिद्धांत तांत्रिक बौद्धधर्म के ईश्वरवाद का प्रत्यक्ष प्रमाण है। ऐसे ही अनेक तत्व हैं जो दोनों साधना पद्धतियों में मिलते हैं। परवर्ती महायान धर्म साधना अथवा तांत्रिक बौद्ध साधना को किसी न किसी रूप में अवश्य ही ईश्वरवादिनी कहा जा सकता है। कारण कि इसके अनेक ग्रंथों एवं साधना-संप्रदायों में हेरुक अथवा हेवज्र अथवा उनका कोई रूप परमोपास्य के रूप में स्वीकृत है। उन्हें उपास्य, अनुकरणीय, कृपालु, रक्षक आदि कहा गया है। इतना ही नहीं, सहजयान में उनका भावात्मक, साधनात्मक, वैचारिक रूप सहज के रूप में स्वीकृत हुआ। यह एक परमोच्च परमतत्वीय अवस्था है, सत्ता है, युगनद्धात्मक आन्तरिक सूक्ष्म तत्व है जिसमें साधक नमक और पानी के सदृश लीन हो जाता है। साधक, साध्य और साधन तीनों ही ऐसी अवस्था में एक और अद्वैत हो जाते हैं। यह स्थिति अनिर्वचनीय है। शास्त्र, ग्रंथ, तर्क, वाद-विवाद, बाह्याचार आदि द्वारा इस स्थिति की उपलब्धि नहीं हो सकती। केवल स्वसंवेदन से ही इसकी प्राप्ति हो सकती है। सरहपाद और कृष्णपाद के चर्यापदों एवं दोहों के आधार पर विवेचित साधना पद्धतियों और अद्वैतानुभूतियों को दृष्टिपथ में रखकर कहा गया है कि कम से कम तांत्रिक-बौद्ध-साधना का सहजयानगत रूप अवश्य ही रहस्यवादात्मक है। यह भी कहा गया है कि कुछ विद्वान केवल हीनयान एवं महायान के प्रारंभिक रूपों पर विचार कर अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं तथा इस प्रकार बौद्धमत को ऐश्वरिक रहस्यवाद नहीं मानते। ऐसे विद्वान वस्तुतः हेवज्रतंत्र, योगरत्नमाला, चर्यापदों और दोहों की साधना और विचारधारा के साथ बौद्धमतावलंबियों की आध्यात्मिक उपलब्धियों पर विचार ही नहीं करते।[148]

तांत्रिक बौद्धसाधना का अनुत्तरयोग वस्तुतः रहस्यमयी साधना का निर्देशन करता है। योगतंत्र में योगाभ्यास का विवेचन होता है, किन्तु अनुत्तर योगतंत्र में उच्चतर रहस्यवाद का विवेचन होता है। वज्रयान तक आते-आते बोधिचित्त और महासुख औपनिषद ब्रह्म के पद को प्राप्त कर चुके थे। डॉ० तुसी ने मैत्रेयनाथ और असंग पर विचार करते समय यह मत व्यक्त किया था कि वस्तुतः बौद्ध रहस्यवाद के दर्शन लगभग तीसरी शताब्दी में ही होने लगे थे। इन आचार्यों का मत विशेषतः रहस्यात्मक

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

है। मैत्रेयनाथ के मतानुसार योग और योगाचार दोनों ही अद्वैतवादी प्रत्ययवाद के विविध पहलुओं को उपस्थित करते हैं। लेकिन दोनों यह स्वीकार करते हैं कि परमतत्व का अनुभव अंतः साक्षात्कार पर ही निर्भर है। उनकी ध्यान की रहस्यात्मक पद्धति अप्रतिम है। इसीलिए दोनों की शब्दावली में पर्याप्त साम्य है। भारतीय योग-साधन को रहस्यवाद के अंतर्गत स्वीकार किया जाता है। इस आधार पर बौद्ध ध्यानयोग को भी रहस्यवाद के अंतर्गत स्वीकार करना चाहिए। इस पर पाश्चात्य विद्वानों जैसे पुंसि और टामस ने भी विचार किया है। कहा जाता है कि बौद्ध ध्यानयोग लगभग ई०पू० तीसरी शताब्दी में औपनिषद ध्यानयोग के सदृश था। लेकिन उसके पश्चात् लगभग पांचवीं शती तक पातंजल राजयोग की तरह ही इसका विकास होता रहा। बौद्ध ध्यानयोग ने तांत्रिक योग और पिंडकल्पना से प्रभावित होकर अपेक्षाकृत अधिक गुह्य एवं रहस्यात्मक रूप धारण कर लिया। लंकावतारसूत्र, मैत्रेयनाथ और असंग के विचारों द्वारा तांत्रिक बौद्ध योग के पूर्व के बौद्ध योग की विशेषताओं का पता चलता है। बौद्धयोग के विकास की अंतिम अवस्था सहजयानी रचनाओं में दिखायी पड़ती है। यहाँ नाड़ीचक्र कल्पना आदि का सांकेतिक और प्रतीकात्मक वर्णन द्रष्टव्य है। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, अंतःसाक्षात्कार, नाड़ी-चक्र-कल्पना, प्रतीकपद्धति आदि पर विचार कर डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची ने चर्यापदों को रहस्यवादी रचनाओं के रूप में स्वीकार किया है। अतः इन चर्यापदों में बौद्ध रहस्यवाद के सिद्धांतों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है। अतः साधन, अनुभूति और अभिव्यक्ति तीनों ही दृष्टियों से अपभ्रंश चर्यापदों के रचयिता बौद्ध रहस्यवादी कवि एवं सिद्ध के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार इससे स्पष्ट है कि बौद्ध रहस्यवाद के जो दर्शन हमें विज्ञानवादी साधन योगाचार में ही होने लगते हैं, उनकी पूर्णता आगे चलकर दिव्यभावाचार प्रधान सहजयानी सिद्धों की अपभ्रंश कृतियों में दिखायी पड़ती हैं।[149]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नास्तिक चिंतनधाराओं में अति महत्वपूर्ण बौद्धधर्मदर्शन में रहस्यवाद यद्यपि विवादास्पद है; तथापि अनेक तत्वों के आधार पर इसे भी भारतीय रहस्यवाद में स्थान दिया जा सकता है। बुद्ध यद्यपि अनात्मवादी थे, तथापि उनके दर्शन में शून्य की चरमसत्ता स्वीकृत थी। आत्मा, परमात्मा आदि का विचार उनकी दृष्टि में अनावश्यक था और वे निर्वाण के रहस्यमय स्वरूप का निर्वचन भी करते थे। निर्वाण के पूर्व प्रज्ञा का उदय आवश्यक था जिसके सहायक शील एवं समाधि नाम के साधन थे। इनकी उपलब्धि के लिए बुद्ध ने पातंजल योग से भिन्न साधन को स्वीकार किया था। पातंजल योग की समाधि और निर्वाण में बहुत भिन्नता है। यह निर्वाण अवर्णनीय है और विशिष्ट परमानन्दमय है जिसमें समस्त तृष्णाओं का पूर्ण निर्वापन हो जाता है। डॉ० सु०ना० दासगुप्त निर्वाण की इस विलक्षणता तथा विशिष्ट योग क्रिया के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कारण ही प्राचीन बौद्धमत को रहस्यवादी कहते हैं। इस दृष्टि से प्राचीन बौद्धधर्म अनात्मवादी एवं अनीश्वरवादी होते हुए भी एक प्रकार से रहस्यवादी माना गया।

ऐतिहासिक विचार से बौद्ध महायान में प्रवृत्तिवादिता और भक्ति के विकास के साथ मंत्र तंत्रादि का प्रचार-प्रसार हुआ जिसकी योगसमन्वित परिणति वज्रयान, कालचक्रयान और सहजयान के रूप में हुई। माध्यमिक शून्य, चतुष्कोटिविनिर्मुक्त होकर परमतत्वस्थानीय विधेयात्मक सत्य के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। इतना ही नहीं, संसार एवं निर्वाण में अभेदता भी स्थापित हुई। हीनयानी निर्वाण सांख्य द्वारा स्वीकृत मुक्ति के सदृश है जबकि महायानी निर्वाण वेदान्त स्वीकृत मुक्ति का प्रतीक है।

किसी परमतत्व की सत्ता में अविश्वास के कारण दूसरे विद्वान् बौद्धमत को रहस्यवादी नहीं मानते, किन्तु अतिबौद्धिक लक्ष्य के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के रहस्यात्मक साधनों को स्वीकृति देने के कारण अन्य लोग इसे रहस्यवाद के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। बौद्धों का शून्यता में समाहित होना अथवा प्रवेश भी कम रहस्यवादी नहीं है। निर्वाण का जो वर्णन बौद्ध साहित्य में उपलब्ध है, वह रहस्यवादी शब्दावली में है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि बौद्धमत ईश्वरपरक रहस्यवाद नहीं है। कुछ लोग इसे विश्लेषणात्मक आत्मरहस्यवाद कहते हैं जबकि इस वर्गीकरण में सोल शब्द विवादास्पद है। प्रज्ञा की महिमा के कारण कुछ लोग इसे ज्ञानात्मक रहस्यवाद भी कहते हैं, क्योंकि इसमें निर्वाण का सुखात्मक स्वरूप स्वीकृत है। किन्तु यदि परवर्ती बौद्धधर्म दर्शन को ध्यान में रखा जाय तो बौद्धरहस्यवाद को आत्मकेन्द्रित रहस्यवाद के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता; क्योंकि बोधिसत्व का महायान में स्वीकृत सिद्धान्त आत्मकेन्द्रित नहीं है। वस्तुतः परवर्ती तांत्रिक रहस्यवाद केवल ज्ञानात्मक रहस्यवाद भी इसलिए नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसका निर्वाण महासुखात्मक है जिसकी उपलब्धि अनेकता में एकता की अनुभूति में होती है। उसमें प्रज्ञा एवं उपाय, शक्ति और शिव का भावयिक रसत्व समरस के रूप में स्वीकृत है। बौद्धमत की रहस्यवादिता का प्रमाण तांत्रिक बौद्धधर्म के उस रूप में मिलता है जिसमें 'हेरूक' अथवा हेवज्र' की परमदैवत के रूप में प्रतिष्ठा होती है। साधना, अनुभूति, परमदैवत और उनकी अभिव्यक्ति इन सभी दृष्टियों से तांत्रिक बौद्धमत सर्वथा रहस्यवादी है। कालचक्रयान और सहजयान में इसके प्रभूत प्रमाण हैं। उनका अनुत्तर योगतंत्र भी रहस्यमयी साधना का निदर्शन करता है। कुछ लोगों के अनुसार तो वज्रयान तक आते-आते बोधिचित्त और महासुख औपनिषद ब्रह्म के पद को प्राप्त कर चुके थे। योग, योगाचार, अद्वैतवादी प्रत्ययवाद, अंतः साक्षात्कार, ध्यान की रहस्यात्मक पद्धति ये सभी बौद्ध रहस्यवादिता का समर्थन करते हैं। चर्यापदों एवं दोहों में नाड़ियों, चक्रों, चक्रस्थ कमलों एवं उनके दलों में विभिन्न बीजों की प्रतिष्ठा, अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, विभिन्न प्रतीकों के प्रयोग ये सभी रहस्यवाद के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

आवश्यक अंग हैं। इस प्रकार प्राचीन बौद्धमत की रहस्यवादिता विवादास्पद हो सकती है, किन्तु महायान से लेकर तांत्रिक बौद्धमत की अंतिम परिणति तक का पूरा विकास सभी दृष्टियों से रहस्यवादी है।

जैन रहस्यवाद

बौद्धमत के सदृश जैनमत को भी नास्तिक और निरीश्वरवादी समझा जाता है; क्योंकि जैनधर्म ईश्वर या परब्रह्म की सत्ता में विश्वास नहीं करता। जैनमत विरक्तों का एक धर्म है जो बौद्धमत के समान वेद के प्रामाण्य को अस्वीकार करता है और इस प्रकार ब्राह्मणधर्म उसे विधर्मगामी अथवा नास्तिकतावादी कहता है। आरण्यकों और उपनिषदों के अनुसार परमसत् (ब्रह्म) एक है जो शाश्वत, अनादि, अपरिवर्तनीय अथवा अनन्त है। इसके विपरीत जैनमत के अनुसार परमसत् (आत्मा, जीव) की प्रकृति अचल और अपरिवर्तनीय नहीं है। वह सत् उत्पत्ति, गतिशीलता और विनाश से सम्बद्ध है। इसे अनेकान्तवाद कहा गया है। प्रत्येक अस्तित्ववाली वस्तु का सारतत्व स्थायी है, परन्तु उसके गुण उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं। इस प्रकार ब्राह्मणवादी धारणाएँ सर्वातिशायी परमसत् से सम्बद्ध है तथा जैनमत सामान्य अनुभव में आये सत् (आत्मा) से संबंधित है।[150] जैनमतानुसार आत्मा दो प्रकार की है—एक तो सांसारिक (संसारी) और दूसरी मुक्त। सांसारिक आत्माएँ वस्तुतः संसार में रहने वाले जीवों की शारीरिक आत्माएँ हैं जो जन्मचक्र में आबद्ध रहती हैं अर्थात् बार-बार जन्म लेती हैं। मुक्त आत्माएँ शरीर धारण नहीं करती हैं, वे निरपेक्ष पवित्रता से मुक्त हो जाती हैं। विश्व की सर्वोच्च पूर्णता में उनका निवास होता है तथा वे सांसारिक क्रिया-कलापों से परे होती हैं। इस प्रकार मुक्त आत्माएँ निर्वाण (निवृत्ति अथवा मुक्ति) को प्राप्त होती हैं।[151]

जैनदर्शन के अनुसार विस्तार धारण करने वाले द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। देशव्यापी (अस्तिकाय) द्रव्यों के दो मुख्य भेद बताये गये हैं—जीव और अजीव। इनमें जीव आत्मा का वाचक है। इस प्रकार, जैसा कि ऊपर बताया गया है, सामान्यतः जीव अर्थात् आत्मा के दो प्रकार बताये गये हैं—बद्ध (संसारी) और बन्धन से निर्मुक्त (मुक्त)। चेतन द्रव्य को जीवन कहा गया है। 'चैतन्यलक्षणो जीवः' अर्थात् चैतन्य जीवन का सामान्य लक्षण है। संसार के समस्त जीवों में चैतन्य प्राप्त होता ही है। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक जीव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से संपन्न माना गया है। लेकिन आवरणीय कर्मों के कारण जीवों में इन स्वाभाविक गुणों का उदय नहीं होता। शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव के कारण जीवों के स्वाभाविक गुणों पर एक आवरण पड़ा रहता है। शुभ कर्मों के अनुष्ठान से इस आवरण का तिरोधान हो जाता है। इसके पश्चात् जीव इन गुणों का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता तथा कर्मफलों का भोक्ता भी स्वयं है।[152]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जीव ही वस्तुओं का ज्ञाता, कर्मों का संपादनकर्ता, सुख का भोक्ता तथा दुःख को सहने वाला है। जीव अपने को स्वयं प्रकाशित करता है। जीवन नित्य है, फिर भी परिणामशील है। उसे शरीर से भिन्न बताया गया है। चैतन्य की उपलब्धि उसकी सत्ता का प्रबल प्रमाण है। जैनदर्शन में जीव को मध्यम परिमाणविशिष्ट बताया गया है। जीव शरीरावच्छिन्न होता है, वह अपने निवासभूत शरीर के रूप तथा परिमाण को अमूर्त होते हुए भी दीपक के प्रकाश की भाँति धारण करता है और प्रकाशित करता है। इसी प्रकार विशालकाय हस्ती में निवास करने वाला जीव विपुल परिमाण-विशिष्ट होता है, परन्तु चींटी के समान अल्पकाय में रहने वाला जीव परिमाण में अत्यन्त ही स्वल्प होता है। अतः प्रदीप के सदृश जीव भी संकोचशील और विकाशशाली होता है। जीव तात्विक दृष्टि से अरूपी होता है, इसलिए इन्द्रियों द्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता। स्वसंवेदन, प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।[153]

सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में दर्शनों में मतभेद है। वेदान्त दर्शन के अनुसार केवल ब्रह्म ही सत् है। बौद्ध दर्शन सत् को निरन्वक्षणिक (अर्थात् उत्पादन विनाशशील) मानता है। जैनदर्शन सत् का विवेचन एक भिन्न ही प्रकार से करता है। प्रत्येक पदार्थ के दो अंश होते हैं—शाश्वत अंश और अशाश्वत अंश। प्रत्येक पदार्थ शाश्वत अंश के कारण ध्रौवात्मक अर्थात् नित्य है और अशाश्वत अंश के कारण वह उत्पाद-व्ययात्मक (उत्पत्ति और विनाशशाली अर्थात् अनित्य) है। अतः एकांश पर दृष्टि डालना एकांगी सत्य होगा। वस्तुतः सर्वांगीण सत्य उभयांशों के निरीक्षण पर ही निर्भर है। इस प्रकार दोनों दृष्टियों का अनुसरण कर जैनमत प्रत्येक पदार्थ को उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त मानता है। अन्त में कहा जा सकता है कि प्रपंच के नानात्व में स्थित एकत्व को जैनदर्शन ने स्वीकार किया है। उसके अनुसार जगत् का नानात्व भी वास्तविक है और एकत्व भी सत्य है।[154] अतः सत् का स्वरूप न तो पूर्णतः स्थायी है, न क्षणिक एवं परिवर्तनशील गुणों अथवा सत्ताओं का रूप है; बल्कि दोनों के सम्मिलन से उसका स्वरूप निर्मित होता है। वस्तुतः सत वही है जिसमें कोई ध्रुव तत्त्व हो तथा जो निरन्तर कुछ गुणों को प्रतिक्षण गँवाता रहता है और कुछ नये गुणों को उत्पन्न करता रहता है। सत् सम्बन्धी जैन सिद्धान्त के अनुसार सत् में कुछ नये गुणों का ध्रुव उत्पाद और पुराने गुणों का व्यय होता रहता है। डॉ० दासगुप्त ने इस क्रम में आगे लिखा है कि "इस दृष्टि से जैनों का दृष्टिकोण वेदान्तियों और बौद्धों के दृष्टिकोण के बीच सामान्य अनुभव के आधार पर किये समझौते पर आधारित है। स्थायी और परिवर्तनशील के समन्वय के रूप में सत् की यह धारणा हमें जैनों के अनेकांतवाद की ओर ले जाती है जिसे हम सापेक्ष अनेकत्ववाद कह सकते हैं जो उपनिषदों के चरम निरपेक्षवाद और बौद्धों के बहुतत्ववाद, दोनों से पृथक् है। जैनों के अनुसार प्रत्येक वस्तु अनेकान्त है। किसी भी चीज को या बात को एकान्ततः सिद्ध नहीं किया जा सकता।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कोई स्थिति चरम या निरपेक्ष नहीं है। सारे कथन कुछ विशिष्ट स्थितियों और सीमाओं के अधीन ही सत्य हैं।"[155]

जैनमत तर्क के आधार पर ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करता है। उसके तर्क के अनुसार एक सर्वज्ञ ईश्वर के बिना भी, एक नैतिक व्यवस्था की अथवा कर्मसिद्धांत के आधार पर संपूर्ण सृष्टि की व्याख्या हो सकती है। यदि एक ईश्वर को माना जाता है तो ईश्वरों के एक समुदाय को भी स्वीकार किया जा सकता है।[156] अपनी श्रद्धा और भक्ति की विशेष उन्नति के लिए व्यक्ति किसी साकार वस्तु की इच्छा करता है। कहा जाता है कि जैनधर्म ने ईश्वर के स्थान पर सिद्धों को प्रतिष्ठित किया है। अर्हत् की देवत्व-कल्पना भी इसी प्रकार की है जो मनुष्यों के आर्त हृदय को आश्वासन देने के लिए पर्याप्त है। इन सबसे महत्वपूर्ण बात है जैनधर्म का जीव के नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य और अनन्त सांख्य में गम्भीर विश्वास जिससे मानव को आशा का सन्देश और स्वालम्बन की शिक्षा मिलती है ।[157] कहा गया है कि उपनिषदों का एक ब्रह्म जैनमत में आकर अनेक परमात्मा के रूप में पर्यवसित हो गया है। जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति निहित है। उसमें आत्मा के तीन भेद अथवा तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं—बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा, जो आत्मा की किसी जाति के बोधक न होकर उसकी अवस्था विशेष के ही वाचक हैं। बहिरात्मा नाम की अवस्था में आत्मा अपने को नहीं पहचानती तथा देह, इन्द्रियों द्वारा स्फुरित होती हुई उन्हें ही अपना सर्वस्व मानती हैं। अन्तरात्मा! नामक अवस्था में यह जीवात्मा स्वयं को पहचानने लगती है और देहादि को अपने से भिन्न समझने लगती है। लेकिन इस अवस्था में आत्मा पुर्णज्ञानी या पूर्णविद् नहीं हो पाती है। आत्मा की उस विशिष्टावस्था का नाम परमात्मा है जहाँ पहुँचकर जीव पूर्ण विकास को प्राप्त होता है एवं पूर्ण सुखी, पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अवस्था या पर्याय की दृष्टि से यह आत्मा की त्रिविधता है; यह विभाजन स्वरूप या द्रव्य की दृष्टि से नहीं है। मोक्खपाहुड़ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा अथवा परमात्मा के इसी स्वरूप कां वर्णन किया है। पुनः उन्होंने परमात्मा की विशेषताओं का उल्लेख किया है और बताया है कि परमात्मा मलरहित, शरीररहित, इन्द्रियरहित, केवल ज्ञानी, विशुद्ध, परमपद में स्थित, सर्वकर्मजितेन्द्रिय, कल्याणकारी, शाश्वत एवं सिद्ध है—

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदियो केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणों सिवंकरो सासओ सिद्धो।।[158]

जैनमत में परमात्मा के अस्तित्व की कल्पना शुरू में ही कर ली गयी थी, लेकिन उसकी संख्या एक न होकर, अनेक मानी गयी। इसके साथ ही उसे नियामक और भिन्न वस्तु न मानकर, आत्मा का ही विकसित, शुद्ध और निर्विकार रूप माना

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गया। यह भी कहा गया है कि आगे चलकर वर्धमान महावीर ने परमात्मा का स्थान ले लिया और उन्हें शुद्धात्मा कहा गया। उन्हें इन्द्रिय, वाणी, विचार से परे माना गया तथा कहा गया है कि उन्होंने अनिर्वचनीय शुद्ध चैतन्य स्वरूप धारण कर लिया जो किसी भी विकार के प्रभाव से रहित है। इससे स्पष्ट है कि प्रारंभ से ही जैनमत परमात्मतत्व में विश्वास करता है।[159]

जैनमत की दृष्टि में जीव चैतन्य है और उसका साक्षात्कार लक्षण है ज्ञान। जीव स्वाभाविक रूप से अनन्त ज्ञान से युक्त है, परन्तु कर्मों के कारण उसके शुद्ध एवं चैतन्य रूप पर आवरण पड़ा रहता है। कहा गया है कि सम्यक् चरित्र के सेवन से जीवन अपने शुद्ध रूप को पुनः पा सकता है तथा कैवल्य एवं सर्वज्ञता से विभूषित हो सकता है। इस ज्ञान के दो भेद हैं– प्रत्यक्ष और परोक्ष। जैनमतानुसार आत्म-सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। आत्मेतर इन्द्रिय मनः सापेक्ष ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं । जैनदर्शन में मोक्ष के तीन साधन बताये गये हैं— (1) सम्यक् दर्शन, (2) सम्यक् ज्ञान, (3) सम्यक् चरित्र। दर्शन शब्द का अर्थ है श्रद्धा। तीर्थंकरो ने जिन शास्त्र-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है उनमें अटूट और गहरी श्रद्धा रखना नितान्त आवश्यक है। सम्यक् ज्ञान दूसरा साधन है। शास्त्र के सिद्धान्तों और तत्वों का यथार्थ एवं गंभीर अनुभव उपलब्ध करना श्रद्धा के सदृश ही उपादेय एवं अवश्यक है। लेकिन सम्यक् चरित्र में ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की चरितार्थता संपन्न होती है।[160]

जैनयोग की चर्चा करते हुए बताया गया है कि योग ज्ञान (यथार्थ का ज्ञान), श्रद्धा (जिनों के उपदेशों में श्रद्धा), और चरित्र (बुरे आचरण से पूर्ण निवृत्ति) से निर्मित होता है। चरित्र के अतंर्गत अहिंसा (भूल से भी किसी प्राणी को न मारना), सूनृत (सत्य, शुभ और प्रिय भाषण), अस्तेय (बिना दिये किसी वस्तु को न लेना) ब्रह्मचर्य (सभी प्रकार के विषयों की तृष्णा से मन, वचन और काया की विरक्ति) और अपरिग्रह (किसी भी वस्तु से मोह न रखना) की गणना की जाती है। जो मोक्ष प्राप्ति के लिए तत्पर है उनके लिए आचार के कट्टर नियमों का पालन आवश्यक है। सूनृत, अस्तेय और ब्रह्मचर्य को अहिंसा के ही अनुपूरक गुणों के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार अहिंसा जैनधर्म का सर्वाधिक महत्वपूर्ण, आधारभूत नैतिक गुण है। मात्र सच्चे आत्मज्ञान से ही आत्मज्ञान के अभाव के कारण उत्पन्न सभी दुःख नष्ट हो सकते हैं। वस्तुतः जीव (आत्मा) केवल शुद्ध बुद्धिस्वरूप है, लेकिन अपने कर्म के कारण वह शरीर धारण करता है। कहा गया है कि ध्यान से जब सभी कर्मों का दहन हो जाता है तो आत्मा शुद्ध हो जाती है—ध्यानाग्निदग्धकर्माणं। सभी प्राणियों में समदृष्टि अथवा समत्व की भावना रखने से साधक रागद्वेष से मुक्त हो जाता है। इसके पश्चात् साधक को ध्यान का अभ्यास करना चाहिए। जैन लोगों के अनुसार जैन-प्रार्थना-मंत्रों पर मन

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

को एकाग्र करना ही ध्यान है। समत्व अर्थात् मन की समानता, भावना और ध्यान ये परस्पर सम्बद्ध बताये गये हैं। समत्व के बिना ध्यान संभव नहीं है और उसी तरह ध्यान के बिना समत्व भी असंभव है। ध्यान से मन को एकाग्र करने के लिए मैत्री अर्थात् विश्वमैत्री की भावना, प्रमोद अर्थात् मानव के अच्छे पक्ष पर जोर देने की आदत, करुणा अर्थात् विश्वकारुण्य, और माध्यस्थ्य अर्थात् लोगों के दोषों के प्रति उपेक्षा की सहायता लेनी चाहिए। इस प्रकार मन को एकाग्र एवं शुद्ध करने और समता की भावना विकसित करने के लिए ही ध्यान का उपयोग किया जाता है। कर्म द्रव्यों के पूर्ण विनाश से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः हम कह सकते हैं कि जैनों का योग नैतिक मानसिक अनुशासन का ही मार्ग है जिससे मन शुद्ध होता है। जैनों का योग वस्तुतः हिंदू दर्शनों के प्रसिद्ध योग तथा बौद्धों के योग से भी भिन्न है।[161]

इस प्रकार जैन दर्शन के अनुसार इस संसार के मूल में अनेक तत्वों की सत्ता स्वीकार की गयी है। अतः हम उसे दार्शनिक बहुत्ववाद के समर्थक के रूप में देखते हैं। शुरू से ही वह रियलिज्म (वास्तववाद) का अनुयायी है। वस्तुतः जैन दर्शन में हमारी बाह्येन्द्रिय और अन्तरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूत जगत् की सत्ता को वास्तविक माना गया है। इस तरह जैनमत निःसंदेह ही बहुत्व-संचलित वास्तववाद (प्ल्युरलिस्टिक रिअलिज्म) को स्वीकार करता है।[162]

जैन दर्शन के अभ्युदय से ही उसमें रहस्यवाद के तत्व दिखायी देते हैं। इसके अधिष्ठाता चौबीस तीर्थंकर संसार के प्रसिद्ध रहस्यवादी माने गये हैं। उनका जीवन चरित, रहन-सहन, और उनके उपदेश इस सम्बन्ध में विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। श्री ए०एच० उपाध्याय ने परमात्म प्रकाश की भूमिका में जैन तीर्थकरों को महान् रहस्यवादी माना है। उन्होंने ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि को संसार के महानतम रहस्यवादियों में परिगणित किया है।[163] पीछे के पृष्ठों में भागवत् के रहस्यवादी विवेचन के क्रम में हमने देखा है कि ऋषभदेव एक प्रमुख रहस्यवादी हैं। आर०डी० रानडे ने भागवत के अन्य रहस्यवादियों के साथ ऋषभदेव की भी चर्चा की है।

जैनाचार्य ने अपनी रचनाओं में रहस्यवादी विचारधारा का स्पष्ट रूप में निर्वचन किया है। जैन मुनियों ने बाह्याचार का विरोध किया, चित्तशुद्धि पर बल दिया तथा शरीर को ही समस्त साधनाओं का केन्द्र बिन्दु माना। उन्होंने समरसी भाव से युक्त होकर स्वसंवेदन द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति पर बल दिया। मुनि योगीन्दु ने इस देह रूपी देवालय में ही अनादि, अनन्त परमात्मा का निवास स्थान माना जिसका स्फुरण केवल ज्ञान से ही होता है। पाहुड़ दोहा में कहा गया है कि इस देह-स्थित परमात्मा की प्राप्ति मंदिर, तीर्थाटन, पूजा आदि बाह्य साधनों द्वारा संभव नहीं है। अतः मुनि योगीन्दु के परमात्मप्रकाश के अनुसार वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान से ही उसकी उपलब्धि संभव है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मुनि रामसिंह ने पाहुड़ दोहा में कहा है कि जब मन परमेश्वर से मिल गया और परमेश्वर मन से, तो दोनों समरस हो गये। ऐसी स्थिति में पूजा किसे चढ़ायी जाय? इस समरसता की दशा को पाकर साधक ब्रह्माण्ड को ब्रह्ममय देखने लगता है। भिन्नता में भी अभिन्नता के दर्शन होने लगते हैं अर्थात् लाभ-हानि, पाप-पुण्य, गुण-दोष में अभेद-दर्शन होने लगते हैं। इसलिए मुनि येगीन्दु ने योगसार में कहा है कि किसकी समाधि करूँ? किसकी अर्चना करूँ? किसे स्पर्श करूँ? किसे मित्र और किसे शत्रु मानूँ? अर्थात् जब सर्वत्र आत्मा के ही दर्शन होते हैं तो भेद-अभेद, स्पर्श-अस्पर्श, शत्रु-मित्र आदि का कोई महत्व नहीं होता। श्री कुंदकुंदाचार्य विरचित अष्टपाहुड़ की भूमिका में श्री जगत् प्रसाद ने लिखा है कि रहस्यानुभूति ही जैनमत का आधार है। इसके सिद्धांत वर्णन में स्पष्ट पद्धति और सरल, सीधी भाषा का प्रयोग किया गया है। धर्म के प्रेम एवं सेवा के तत्त्व से जैनमत की रहस्यमयता पुष्ट होती है।[164]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि बौद्धों के रहस्यवाद के समान ही जैनों का रहस्यवाद भी विवादास्पद है, क्योंकि विभिन्न आस्तिक दर्शनों के रहस्यवाद के सदृश किसी एक परमतत्व की स्रष्टा एवं नियामक के रूप में कल्पना यहाँ नहीं मिलती। इतना ही नहीं, आत्मतत्व की शाश्वतता और नित्यता भी इस मत को स्वीकार्य नहीं है। उतने पर भी जैनमत सर्वोच्च पूर्णता के एक आदर्श को स्वीकार करता है जिसमें मुक्त आत्माएँ निवास करती हैं। इसी प्रकार समस्त जीवों में विभिन्न प्रकार की भिन्नताओं के होते हुए भी एक चैतन्य की कल्पना अवश्य करता है। इस दृष्टि से अनेक मुक्तात्माओं की सत्ता, एक सर्वोच्च आदर्श को स्वीकृति जो विभिन्न रहस्यवादी विशेषताओं से सम्पन्न होता है, रहस्यवाद की ओर संकेत करते हैं। एक तीसरी बात यह है कि अर्हत् के देवत्व की जो कल्पना यहाँ मिलती है वह भारतीय रहस्यवाद के समानान्तर है। बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा नाम की आत्मा की ही जो तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं, वे वस्तुतः रहस्य-साधना में विकास को प्राप्त करने वाली आत्मा की विभिन्न स्थितियाँ हैं जिसमें प्रत्यभिज्ञान का महत्व कम नहीं है। परमात्माओं के जो लक्षण बताये गये हैं वे निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों प्रकार के हैं। यह परमात्मा अन्य भारतीय रहस्यमयी चिंतनधारा के परमात्मा से बिलकुल भिन्न है। रहस्यवादी इस संसार में रहता हुआ भी जिस प्रकार इससे अलिप्त रहता है उसी प्रकार जैन कैवल्यप्राप्त व्यक्ति भी विचरण करता है। परमात्मा की स्थिति को प्राप्त करने वाली आत्मा कर्मकलंक से मुक्त होकर अखंड और असीम आनन्द लोक में विचरण करती हुई जिस अनिवर्चनीय एवं वर्णनातीत अध्यात्मसुख का अनुभव करती है वह चरमोत्कृष्ट रहस्यानुभूति के लक्षणों के सर्वथा अनुकूल है। अन्य भारतीय रहस्यवादी धाराओं के समान ही श्रद्धा, ज्ञान और संयम की महिमा इस मत में भी है। किंतु श्रद्धा और आचार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

को जो विशिष्ट स्थान इस धर्ममत में दिया गया है उससे जैनमत की आचारप्रधान रहस्यवादिता प्रमाणित होती है। प्राचीन जैनमत में प्रत्यक्ष और केवल ज्ञान की जो विवेचना मिलती है वह रहस्यवादी प्रातिभ ज्ञान के अत्यधिक निकट है। मन की एकाग्रता, शुद्धि और समता की भावना के विकास के लिए रहस्यवादी साधनाओं की तरह जैनमत में ध्यान का उपयोग निर्दिष्ट है। इससे यह स्पष्ट है कि जैन रहस्यवाद मुख्यतः नैतिक, मानसिक रहस्यवाद है जो अन्य भारतीय रहस्यवादों से भिन्न है। उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर ही अनेक विद्वानों ने जैनधर्म के प्रसिद्ध चौबीस तीर्थंकरों को उनके जीवन के स्वरूप विशेष के आधार पर उन्हें रहस्यवादी घोषित किया है, किन्तु परवर्ती जैनमत की कुछ अपभ्रंश रचनाओं में यह रहस्यवादिता विशिष्ट रूप में सघन और गंभीर है। उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त जैन रहस्यवादियों की अंतस्साधना का विजयघोष अपभ्रंश की जैन मुक्तक रचनाओं में सुनायी पड़ता है। अनेकता में एकता का दर्शन उनकी समदृष्टि का परिचायक है। इसी प्रकार जैन रहस्यवादियों ने शास्त्र ज्ञान, पोथी ज्ञान आदि का खंडन करते हुए आत्मज्ञान का अथवा स्वानुभूति ज्ञान का जो समर्थन किया है उससे उनकी रहस्यदर्शिता स्वतः प्रमाणित हो जाती है। वे षड्दर्शन की निस्सारता का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार परवर्ती जैनधर्म में बाह्याचार का जो प्रपंच प्रसार हो गया था उसकी व्यर्थता बताते हुए जैन रहस्यवादियों ने अंतस्साधना और प्रातिभज्ञान को अपना प्रबल समर्थन प्रदान किया। मानवजन्म की महिमा और उसकी उपयोगिता को प्रतिष्ठित करते हुए जैन रहस्यवादियों ने इस लोक की महिमा और मानव जीवन के प्रत्येक क्षण की उपयोगिता को समझाने का प्रयास किया । इससे नैतिक, संयमपूर्ण और सदाचार संपन्न आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा उन्होंने लोगों को दी।

भारतीय रहस्यवाद का तात्विक अध्ययन

वैदिक रहस्यवाद के तत्त्व

भारतीय रहस्यवाद का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते समय मैंने वैदिक रहस्यवाद का विवरण प्रस्तुत किया है। वहाँ वैदिक रहस्यवाद को अर्थात् ऋक् आदि संहिताओं के रहस्यवाद को याज्ञिक रहस्यवाद कहा गया है। स्पष्ट है कि याज्ञिक रहस्यवाद में यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड की प्रधानता होती है। वेद ही यज्ञों के मूलाधार हैं। वेदों को अवैयक्तिक अर्थात् अपौरुषेय माना गया है तथा यज्ञों में अप्रतिम शक्ति मानी गयी है। यज्ञों के विधिवत् संपादन से किसी भी लक्ष्य की उपलब्धि संभव थी। इस प्रकार यज्ञों को अप्रतिम एवं रहस्यसय शक्ति से युक्त माना गया।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

डॉ० सुरेंद्रनाथ दासगुप्त ने अपने ग्रंथ 'हिन्दू मिस्टिसिज्म' में वेदों के याज्ञिक रहस्यवाद के मुख्य तत्वों का उल्लेख किया है। प्रथमतः यज्ञों में दृढ़ विश्वास कि यदि उनका पूर्ण विधिविधान से संपादन किया जाय, तो उनसे गुप्त, रहस्यमय शक्ति उत्पन्न होती है, फलस्वरूप यज्ञकर्त्ता की कोई भी इच्छा लौकिक अथवा अलौकिक, पूर्ण होती है। दूसरे, एक अपरिवर्तनीय विधान की धारणा, जो इन यज्ञों के संपादन के फलस्वरूप उत्पन्न प्रभावों की नियत और अमोघ घटनाओं में अनुस्यूत है। तीसरे, वैदिक साहित्य की अवैयक्तिक (अपौरुषेय) प्रकृति में विश्वास, जो अनन्तकाल से स्वयं अस्तित्वमान है और जिसकी रचना किसी व्यक्ति अथवा दैवी पुरुष द्वारा नहीं हुई है। चौथे, वैदिक साहित्यविधि निषेधों से युक्त एक कर्म-पद्धति का मूर्त रूप है। पाँचवें, चरमसत्य के ज्ञान के एकमात्र स्रोत वेदों के चरमप्रामाण्य को स्वीकार करना जो मानवीय तर्क की शक्ति से परे है। छठे, वैदिक शब्दों (वर्ड्स) में सभी के लिए एक बार सत्य की उपलब्धि हो सकती थी। वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में लोगों की ऐसी मान्यता थी । सातवें, लोगों का दृढ़ विश्वास था कि वैदिक कर्मपद्धति के प्रति अमोघ आज्ञाकारिता और समर्पण की भावना होनी चाहिए।[165]

डॉ० दासगुप्त ने इन उपर्युक्त सात विशिष्ट विशेषताओं की चर्चा करने के बाद इनमें से ही दो सुनिश्चित विशेषताओं का उल्लेख किया है। वैदिक रहस्यवाद की ये दो मौलिक विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। प्रथमतः, प्राकृतिक शक्तियों के देवत्व के स्थान पर यज्ञों को सर्वातिशयी, रहस्यात्मक और गुप्त शक्ति से युक्त मानना। दूसरे, सभी सत्यों के स्रोत तथा हमारे भौतिक सुखों की ओर उन्मुखः करने वाले कर्मों (कर्तव्यों) के चुनौती रहित एकाधिपति के रूप में वेदों की चरम श्रेष्ठता को मानना। इस प्रकार वेदों के अनुसार संपादित यज्ञों को सर्वशक्तिसम्पन्न माना गया। यज्ञों की रहस्यात्मक सर्वशक्तिमत्ता वैदिक रहस्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता है। यहाँ किसी भावना अथवा बुद्धि से कोई तात्पर्य नहीं है, बल्कि एक अवैयक्तिक सत्ता (कोई व्यक्ति नहीं) के प्रति अंधसमर्पण होना चाहिए। यह सत्ता सभी शक्तियों के रहस्यरूप एक अपरिवर्तनीय अभेद्य विधान को धारण करती है जिसे हम अपने पक्ष में मोड़ने की इच्छा कर सकते हैं।[166] इस प्रकार पूर्व के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि याज्ञिक रहस्यवाद किसी ऐसे देवता अथवा परमसत् का साक्षात्कार नहीं करता है जिससे ये मंत्र उद्भूत हुए हैं अथवा जिसने इन मंत्रों का मनुष्य के लिए प्रातिभ साक्षात्कार कराया है। ये मंत्र शाश्वत सत्य, अनादि एवं अमर समझे जाते हैं और जो मनुष्य के लिए स्वयं उद्भूत हुए हैं। वस्तुतः वेद शाश्वत सत्य के प्रातिभ साक्षात्कार हैं तथा ये ऐसे सत्य हैं जो मानव-तर्क द्वारा अकाट्य हैं।

इस प्रकार वैदिक रहस्यवाद वस्तुतः कर्मकाण्डीय रहस्यवाद है जिसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड की ही प्रधानता है। यज्ञों को सर्वशक्तिमान माना गया जिससे किसी भी प्रकार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के लक्ष्य, लौकिक अथवा अलौकिक की उपलब्धि संभव थी। यज्ञ द्वारा किसी भी देवता को प्रसन्न अथवा अप्रसन्न किया जा सकता था। दूसरे, यज्ञों के संपादन के फलस्वरूप घटित होने वाली घटनाएँ नियत एवं अमोघ होती थीं। उनमें निहित अपरिवर्तनीय विधान में वैदिक लोगों की अटूट आस्था थी। तीसरे, वैदिक साहित्य को अनन्त काल से अस्तित्वमान माना गया है। उसकी अपौरुषेय प्रकृति में वैदिक रहस्यवादियों का अटूट विश्वास था। चौथे, वैदिक साहित्य में याज्ञिक विधिनिषेधों से युक्त एक कर्मकाण्डीय मार्ग का निर्धारण किया गया है अर्थात् वेदों में यज्ञ-संपादन की विधियों का विधिवत् विवेचन किया गया है जिसकी ओर पीछे के पृष्ठों में विस्तार से उल्लेख किया गया है। पाँचवें, वैदिक रहस्यवादी वेदों को चरम-सत्य के ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानते हैं । इन वेदों को चरम प्रामाण्य के रूप में स्वीकार किया गया है जो मानवीय तर्क की सीमा से परे है। छठे, वैदिक साहित्य के सम्बन्ध में लोगों का ऐसा विश्वास था कि वेदों द्वारा सभी को एकबारगी सत्य की उपलब्धि हो सकती है। अंतिम रूप में कहा जा सकता है कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अमोघ आज्ञाकारिता और समर्पण की भावना होनी चाहिये।

अंत में हम कह सकते हैं कि वैदिक रहस्यवाद याज्ञिक रहस्यवाद है जिसमें यज्ञ ही सर्वशक्तिमान् है, वह रहस्यात्मक और गुह्य शक्तिसंपन्न है । प्राकृतिक शक्तियों; जैसे मरूत, उषा, सूर्य आदि, जिन्हें देवता के रूप में ग्रहण किया गया था, से भी यज्ञ को अधिक शक्तिशाली माना गया। इस प्रकार यज्ञ को देवताओं से भी अधिक शक्तिशाली माना गया। यह भी माना गया कि वेद सभी सत्यों के एक मात्र स्रोत हैं, हमारे कर्मों के नियामक हैं, एकाधिपति हैं तथा चरमश्रेष्ठ हैं।

तांत्रिक रहस्यवाद के तत्त्व

पीछे के पृष्ठों में हमने तंत्रवाद की चर्चा की है। तंत्रवाद में मंत्र, यंत्र और न्यास के वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इसमें शिव तथा शक्ति क्रमशः परमचेतना और परमशक्ति की प्रतिरूप मानी जाती हैं। कहा जाता है कि तंत्रवाद में पंचमकारों (मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) के सेवन द्वारा साधना की जाती है। वस्तुतः सहस्रार में शिव और शक्ति का महामिलन ही तंत्रवाद का लक्ष्य है। इस साधना के अनुसार शरीर में अनेक चक्रों की स्थिति मानी गयी है—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्य, आज्ञा और सहस्रार। कुण्डलिनी शक्ति ही इन चक्रों का भेदन करती हुई अंततः सहस्रार में शिव से मिलन करती है।

तांत्रिक रहस्यवाद के विविध तत्वों का संक्षेप में विवेचन किया जा सकता है। प्रथमतः तांत्रिक रहस्यवाद अद्वैतवादी है अर्थात् वह पिण्डब्रह्माण्डवाद का समर्थक है। उसके अनुसार ब्रह्माण्ड के सभी तत्व, पदार्थ पिंड में ही स्थित हैं जिनका दर्शन साधक अपने शरीर के भीतर ही करता है। वस्तुतः पिण्डशक्ति अर्थात् व्यक्तिशक्ति का ही विशाल

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रूप ब्रह्माण्डशक्ति अर्थात् परमात्मशक्ति के रूप में दिखायी पड़ता है। 'जोइ-जोइ पिण्डे, सोइ ब्रह्माण्डे' के अनुसार यह शरीर ही ब्रह्माण्डशक्ति का निवास स्थान है। दूसरे तांत्रिक रहस्यवादी अनेकता में एकता पर विश्वास करते हैं अर्थात् इस वैविध्यपूर्ण संसार में भी ऐक्य का अनुभव करते हैं। तीसरे, तांत्रिक रहस्यवाद के अंतर्गत साधना की चरमावस्था में अंतस्साधना प्रधान हो जाती है। चौथे, आचार सम्बन्धी विशिष्ट आदर्शों का पालन भी अत्यावश्यक है। पाँचवें, तांत्रिक रहस्यवाद गुरुशिष्यवाद को स्वीकार करता है। तंत्र में गुरु को देववत् माना गया है। वस्तुतः गुरु ही साधना की विविध कठिनाइयों से साधक को मुक्त करके लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है। गुरुशिष्यवाद से संबंद्ध दूसरा सिद्धांत है अधिकारभेदवाद जिसके अनुसार अधिकारी व्यक्ति को ही गुरु साधना की गुह्य बातों को बतलाता है। तांत्रिक रहस्यवाद के अन्तर्गत प्रातिभ साक्षात्कार अथवा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार योगज प्रत्यक्ष को छठे तत्व के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। सातवें, तांत्रिक रहस्यवादी जीवन को ही साधना का मूलाधार मानते हैं। आठवें, इसमें योग के विविध रूप स्वीकार्य हैं। शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार की साधनाओं द्वारा साधना की जाती है। नवें, अपनी रहस्यानुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया जाता है। दसवें, तांत्रिक रहस्यवादी जगत् को सत्य मानते हैं। यह संसार परमात्मतत्व की इच्छा शक्ति का ही विलास है। ग्यारहवें, ये रहस्यवादी परमात्मशक्ति से विविध प्रकार के व्यक्तिगत सम्बन्धों की कल्पना करते हैं और जीवन में उन्हें चरितार्थ करते हैं।

सर जान उडरफ के अनुसार तंत्रशास्त्र के अतंर्गत शिव, शक्ति, गुण, लोक, वर्ण, आश्रम, पिंड और ब्रह्माण्ड, युग, युगों के शास्त्र, मानवशरीर, तीन भाव, गुरु और शिष्य, दीक्षा, अभिषेक, साधन, पूजा, योग, पाप और पुण्यकर्म, पुरुषार्थ, सिद्धि आदि विषयों का विचार किया जाता है। इसके अनुसार साधना के लिए हिमालयस्थ कैलाश जाने की आवश्यकता नहीं है। वह मानव पिण्ड में ही सहस्रारपद्म में स्थित है। ऊपर जो तांत्रिक तत्व बताये गये हैं उनकी सिद्धि उडरफ महोदय के विभिन्न उद्धरणों से की जा सकती है। सृष्टि के विकास का क्रम शिवशक्ति-शीर्षक के अन्तर्गत स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह बताया है कि देवी का ब्रह्माण्ड में जो रूप है उसका सूक्ष्मरूप कुंडलिनी नाम से पिंडांड में विद्यमान है। यद्यपि उसके बहुत से रूप है। रूप की अनेकता और कुछ नहीं, उस एक परमा के पुष्पित सौन्दर्य के अनेक प्रकाशन हैं। गुणों की दृष्टि से तांत्रिक साधना का तात्पर्य है सत्वगुण को सक्रिय और तेजस्वी बनाना। मनुष्य के लिंग शरीर की रचना बुद्धि, अहंकार, मनस और दस इन्द्रियों से होती है। यह सूक्ष्म शरीर जीवात्मा की आध्यात्मिक स्थिति के लिए स्थूल शरीर की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रचना करता है। यह स्थूल शरीर भी त्रिगुणात्माक होता है। सत्व गुण की सक्रियता और तेजस्विता के लिए सद्गुरु की आवश्यकता स्वीकार की गयी है जो शिष्य की योग्यता अथवा गुणात्मकता के अनुसार साधन का निर्देश करता है। शिष्य की आध्यात्मिक स्थिति को ध्यान में रखकर यदि वह ऐसा न करे तो लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। साधन विशेष के लिए विशेष प्रकार के योग्य व्यक्ति को अधिकारी कहा गया है। इसीलिए स्वधर्म साधन को ही महत्व दिया जाता है। तांत्रिक साधना की विशेषता यह है कि यह वैदिक बहिष्करण को किसी भी रूप में स्वीकार न कर सभी वर्णों, लिंगों को साधना का मुक्त अधिकार देती है। गौतिमीय तंत्र का कथन है कि—'सर्ववर्णाधिकाराश्च नारीणां योग्यएव च।' तंत्र कलि में केवल दो ही आश्रमों को मान्यता देता है—गार्हस्थ्य और भिक्षुक या अवधूत तथा ये दोनों ही सभी वर्णों के लिए बिना किसी भेदभाव के खुले हुए हैं। अवधूतों में सर्वोच्च हंसावधूत को माना गया है। निर्वाण तंत्र ने विभिन्न ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति का विस्तार से वर्णन किया है। विश्वसार तंत्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या में कहता है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्' (जो यहाँ है वह अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है)। शक्तानन्द तरंगिणी के आधार पर श्री उडरफ ने इसका विस्तार किया है। पाप और पुण्य के आनुपातिक न्यूनाधिक्यता के आधार पर युगों का विचार किया गया है। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग में से कलियुग के लिए तंत्र की विशेष उपयोगिता है। श्रुति, स्मृति, पुराण और तंत्र में हिन्दू शास्त्रों का विभाजन मिलता है और तंत्र को पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया जाता है। तंत्र भी दो प्रकार की श्रुतियों में से एक है जो कलियुग के लिए विशेष अनुकूल है। मानवशरीर में चक्र, कोष, नाड़ी, पद्म आदि का विचार किया गया है जिसके मूल में पिंड ब्रह्माण्ड सम्बन्धी सिद्धान्त क्रियाशील है। तीन प्रकार के भावों का विचार मिलता है वह वस्तुतः मनुष्य के वर्ग हैं जिनका आधार उनकी प्रकृति है । इसी प्रकार उडरफ ने तांत्रिक रहस्यवाद के ऊपर बताए हुए अन्य तत्वों का भी विचार अपने ग्रंथ में किया है जो इसे अन्य भारतीय रहस्य साधनों से विशिष्ट सिद्ध करते हैं। इन सारे तत्वों में उपासना तत्व विशेष महत्वपूर्ण है जिसके अन्तर्गत आचार, मंत्र, गायत्रीमंत्र, यंत्र, मुद्रा, संध्या, पूजा, यज्ञ, व्रत, तपस, जप, संस्कार, पुरश्चरण, भूतशुद्धि, न्यास, पंचतत्व, चक्रपूजा आदि का विनियोग किया गया है। योग के अन्तर्गत शोधन (षट्कर्म), दृढ़ता (आसन), स्थिरता (मुद्रा), धैर्य (प्रत्याहार), लाघव (प्राणायाम), प्रत्यक्ष (ध्यान), निर्लिप्तत्व (समाधि), षट्चक्र भेद आदि का विस्तार मिलता है। संक्षेप में तांत्रिक रहस्यवाद के सिद्धान्त और साधन सम्बन्धी ये तत्व उसके स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं।[167]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

औपनिषद रहस्यवाद के तत्त्व

पीछे के पृष्ठों में उपनिषदों के रहस्यवाद को प्रस्तुत किया गया है। उक्त विवेचन के आधार पर औपनिषद रहस्यवाद के तत्वों को संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस प्रकार औपनिषद रहस्यवाद का साध्य एक और अद्वितीय परमात्मा ही है जो शुद्ध आत्मचेतना से अभिन्न है। दूसरे, रहस्यवाद का साध्य बौद्धिक ज्ञान का विषय नहीं है। तीसरे, उस परमात्म तत्व की रहस्यानुभूति वाणी आदि का विषय नहीं है, वह अवाङ्मनस्गोचर है। चौथे, साधक को विभिन्न योग्यताओं से युक्त होना चाहिए अर्थात् एक लंबे समय तक उसे नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन में रहना चाहिए। उसे सत्य, तप तथा अन्तर्दर्शन का जीवन जीना चाहिए। पाँचवें, इन योग्यताओं को अर्जित कर लेने के बाद आध्यात्मिक गुरु की आवश्यकता होती है जो आत्मसाक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करे। वस्तुतः गुरु को भी आत्मज्ञान सम्पन्न होना चाहिए। छठे, उपनिषदें रहस्यानुभूति की प्राप्ति के साधन के रूप में ज्ञानसाधना पर बल देती हैं। ज्ञान मात्र बौद्धिक योग्यता नहीं है, यह तो आत्मानुभाव है। इसीलिए कहा गया है कि आत्मा का ज्ञाता शोकसागर को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध रहस्यवाद के तत्त्व

प्राचीन बौद्धधर्म पर विचार करते हुए हमने देखा है कि निर्वाण की प्राप्ति ही उनका लक्ष्य था। डॉ० सु०ना० दासगुप्त ने इस निर्वाण–प्राप्ति की दशा को बौद्ध रहस्यवाद के नाम से अभिहित किया है। प्राचीन बौद्धधर्म में चार आर्य सत्यों (दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध या निर्वाण, दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत् अर्थात् निर्वाण-मार्ग) का महत्व था । शील समाधि और प्रज्ञा के साथ अष्टांगिक मध्यम मार्ग का विशेष महत्त्व था जो साधन स्वरूप थे। अष्टांगिक मार्ग उभय सुख-दुख के छोरों को छोड़कर मध्यम मार्ग को अपनाता है। इसके आठ अंग हैं—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि। इनके यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति हो जाती है। परवर्ती बौद्धमत में निर्वाण को परम महासुख के रूप में स्वीकार किया गया।

महायान दर्शन के अन्तर्गत मुख्यरूप से योगाचार और माध्यमिक दार्शनिक संप्रदायों की गणना की जाती है। विद्वानों ने विचार कर निश्चित किया है एक विशिष्ट अर्थ में ये दोनों ही दार्शनिक संप्रदाय अद्वैतवादी हैं । प्रज्ञोपाय सिद्धान्त दोनों को स्वीकार है। दूसरे परवर्ती बौद्ध रहस्यवाद में प्रज्ञा की साधना तांत्रिक रहस्य साधना के समतुल्य है। यह शक्ति की ही साधना है। तीसरे, मंत्र की अलौकिक रहस्यमय शक्ति को तांत्रिक बौद्ध भी स्वीकार करते हैं और यहाँ तक कि प्रँबीजाक्षर संपूर्ण प्रज्ञापारमिता साहित्य की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

रहस्यमय शक्ति को समाहित किये हुये माना गया है। उसी प्रकार पारमितानय में प्राचीन बौद्ध धर्म की पारमिताओं (पूर्णताओं) की साधना का तांत्रिक रहस्यवादी विकास दिखायी पड़ता है। चौथे, तांत्रिक बौद्ध रहस्यवादी पिंड ब्रह्माण्डवाद के सिद्धान्त को प्रकारान्तर से स्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि पिंड ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त रूप है। पाँचवें, इसी सिद्धान्त के आधार पर बौद्ध रहस्यवादियों ने अपनी रहस्यमयी अंतस्साधना का विकास किया। छठे, महासुख का या सहजसुख का अनिर्वचनीय स्वरूप ये स्वीकार करते हैं जिसे केवल प्रातिभ ज्ञान से ही प्राप्य अथवा अनुभूय मानते हैं। यह महासुख की कल्पना प्राचीन निर्वाण की ही सुखात्मक कल्पना के समीप है। सातवें, चक्रों और नाड़ियों की कल्पना भारतीय तांत्रिक रहस्यसाधना के समान है किंतु अपनी दार्शनिक परंपरा के अनुकूल, साथ ही अपना वैशिष्ट्य स्थापित करते हुए तांत्रिक बौद्ध सिद्धों ने चार चक्रों, चार शून्यों, चार सुखों, चार क्षणों, चार शक्तियों, चार देवताओं और चार कामों की कल्पना की है। इसी प्रकार उनकी आठवीं रहस्यवादी विशेषता नाड़ियों से सम्बन्धित है। इनके यहाँ भी ललना, रसना और अवधूती नाम की तीन नाड़ियाँ भारतीय तांत्रिक योग के समान ही स्वीकार की जाती हैं जिनमें परम श्रेष्ठ मध्यगा अवधूती ही है जो अद्वैतप्रधाना है। नवे, इनकी रहस्यसाधना में चित् और शुक्र परस्पर पर्याय के रूप में ग्रहण किये गये हैं और इनके रहस्यमय प्रतीकात्मक वर्णन भी उपलब्ध होते हैं। दसवें, उपर्युक्त प्रकार की अपनी साधनात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों से संपन्न विशिष्ट संधाभाषा का प्रयोग करते हुए दिखायी पड़ते हैं।[168]

जैन रहस्यवाद के तत्त्व

पीछे के पृष्ठों में जैनमत के रहस्यवादी स्वरूप को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। उसके आधार पर जैन रहस्यवाद के तत्वों को प्रस्तुत किया जा सकता है– (1) जैनमत में एक चैतन्य की कल्पना की गयी है जो सभी में विद्यमान है। इसीलिए कहा गया है कि सभी मुक्तात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं। यह एक चैतन्य मुक्तात्मा के आदर्श की कल्पना है जो रहस्यमयी विशेषताओं से संपन्न है। (2) आत्मा के विकास की तीन अवस्थाएँ बतायी गयी हैं– बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा जिनमें अंतिम सर्वोच्च है। वस्तुतः ये साधनात्मक अवस्थाएँ मानी जाती हैं। (3) कैवल्यावस्था की प्राप्ति की जा सकती है जिसमें आत्माएँ परमात्मा के रूप को प्राप्त करती हैं, कर्मकलंक से मुक्त रहती हैं तथा असीम एवं अखण्ड आनन्द में मग्न रहती हैं। (4) उक्त आनन्द को अनिर्वचनीय एवम् वर्णनातीत माना गया है। (5) साधना के लिए श्रद्धा, ज्ञान और संयम को अनिवार्य रूप में स्वीकार किया गया है। (6) जैनमत में रहस्यवादी प्रातिभ ज्ञान के समान ही प्रत्यक्ष और केवल ज्ञान को स्वीकार किया गया है। (7) मन की एकाग्रता, शुद्धि, समता की भावना के विकास के लिए ध्यान का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपदेश निर्दिष्ट है। (8) अनेकता में एकता का दर्शन एवं समदृष्टि का विकास करना चाहिए। (9) जैनमत में शास्त्रज्ञान और पोथीज्ञान की निस्सारता का उपदेश दिया गया है। (10) जैनमत में अंतस्साधना की महिमा बतायी गयी है।

भक्तिपरक रहस्यवाद

परमात्मा के प्रति प्रेमपूर्ण अनुराग ही भक्ति है। भक्ति शब्द भज् धातु से बना है, जिसका अर्थ है सेवा करना। इस प्रकार भक्ति का अर्थ है भगवान् की अनन्य सेवा। गीता के अनुसार भक्ति द्वारा ही हम ईश्वर को जान सकते हैं अर्थात् भगवान् की प्रभुता एवं विभुता का ज्ञान भक्ति द्वारा ही संभव है । गीता कहती है कि जो लोग भगवान् को सब वस्तुओं का उत्पत्ति स्थान समझते हुए विश्वासपूर्वक उसको भजते हैं, उनके विचार भगवान् में स्थिर हो जाते हैं उनका जीवन भी भगवान् के प्रति पूर्णतया समर्पित हो जाता है। इस तरह एक दूसरे को ज्ञान देते हुए, सर्वदा ही भगवान् के विषय में कथावार्ता करते हुए वे संतुष्ट रहते हैं, भगवान् में ही रममाण होते हैं। जो निरंतर इस प्रकार भगवान् की भक्ति करते हैं और प्रेमपूर्वक उनको भजते हैं, उनकी पूजा करते हैं, भगवान् उन्हें वह बुद्धि योग (बुद्धि की एकाग्रता) प्रदान करते हैं जिससे वे भगवान् को प्राप्त कर लें। पीछे के पृष्ठों में इन सबका विवेचन किया गया है। भारतीय रहस्यवाद का विकासक्रम दिखाते हुए भक्ति की परिभाषा और उसके स्वरूप को भी प्रस्तुत किया गया है।

महर्षि शांडिल्य ने भक्ति को परिभाषित करते हुए लिखा है– परानुर-क्तिरीश्वरे अर्थात् ईश्वर में परानुरक्ति ही भक्ति है। भगवान् में पराकोटि का अनन्यप्रेम ही भक्ति है। डॉ. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने शांडिल्य भक्तिसूत्र की स्वप्नेश्वर कृत टीका के आधार पर बताया है कि राग ही को अनुरक्ति कहते हैं। इस प्रकार परानुरक्तिरीश्वरे का अर्थ है आराध्यविषयक परम राग। अर्थात् पराकोटि का राग (आराध्यविषयक-रागत्वम्)।[169] अमृतत्व को भक्ति से संबद्ध करते हुए महर्षि शांडिल्य ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ माना है। भक्त तो कर्मी और योगी दोनों से श्रेष्ठ है। भक्ति वस्तुतः ईश्वर के ऐश्वर्य के साथ आत्मतत्व से भी संबद्ध है। जगत् ईश्वर में ही स्थित है। माया या प्रकृति ईश्वर की शक्ति है, इसलिए मिथ्या नहीं है।[170] शांडिल्य भक्तिसूत्र में भक्तिसूचक चिह्नों की भी चर्चा की गई है। भगवान से भिन्न वस्तु के प्रति अरूचि, उनकी महिमा का वर्णन, भगवान् के लिए ही जीवन धारण करना, सर्वतद्भाव, उनका स्मरण आदि भक्तिसूचक चिह्न हैं। कहा गया है कि कारूण्य के कारण ही भगवान् दिव्य जन्म-कर्म धारण करते हैं । पराभक्ति की प्राप्ति के लिए गौणी भक्ति हेतुरूप है। यह गौणी भक्ति भी तीन प्रकार की होती है। स्मृति, कीर्तन, कथादि श्रवण तो प्रायश्चितस्वरूप बताये गये हैं। शांडिल्य के अनुसार सभी जाति के लोगों का भक्ति में समान अधिकार है।[171]

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

भक्तवर प्रह्लाद ने विष्णुपुराण में कहा है कि मैं ईश्वर के प्रति उसी प्रीति का अनुभव करूँ जिस प्रीति का अविवेकी जन विषयों के प्रति अनुभव करते हैं—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥[172]

भक्ति सम्बन्धी महर्षि नारद के विचारों का विवेचन हमने पीछे के पृष्ठों में किया है जिसके अनुसार ईश्वर के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है अर्थात् भक्ति ईश्वर के प्रति परमप्रेमरूपा है—सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। वह भक्ति अमृत-स्वरूपा भी है जिसकी प्राप्तिकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है, तृप्त हो जाता है। इस भक्ति को उपलब्ध कर मनुष्य वांछारहित, शोकरहित एवं द्वेषरहित हो जाता है, वह किसी वस्तु में रमता नहीं और न विषयभोगों की प्राप्ति में उसे उत्साह ही होता है। इस परमप्रेमरूपा भक्ति के ज्ञान से मनुष्य मत्त (मस्त), स्तब्ध और आत्माराम बन जाता है। यह भक्ति कामना रहित होती है अर्थात् कोई कामना नहीं रहने देती, क्योंकि वह निरोधस्वरूपा होती है। लौकिक एवं वैदिक व्यापारों का न्यास (समर्पण शुद्धिकरण) ही निरोध है। नारद के अपने नवें सूत्र से लेकर चौदहवें सूत्र तक बताया है कि भगवान के प्रति अनन्यता होनी चाहिए तथा इस अनन्यता के विरोधी तत्वों के प्रति उदासीनता होनी चाहिए। भगवान् के अतिरिक्त अन्य आश्रयों का त्याग ही अनन्यता है। भगवान् के अनुकूल जो लौकिक एवं वैदिक आचार हैं, केवल वे ही करणीय हैं; अन्य आचारों के प्रति उदासीनता होनी चाहिए। नारद ने तो यहाँ तक बताया है कि जब तक भगवान् के प्रति भाव में निश्चय की दृढ़ता न आ जाय तब तक शास्त्र रक्षण होना चाहिए, अन्यथा पतन की आशंका बनी रहती है। जैसे शरीर धारण के लिए भोजनादि व्यापार आवश्यक है उसी प्रकार लौकिक कर्मरक्षण भी होना चाहिए।

भक्ति के लक्षणों की चर्चा करते हुए देवर्षि नारद ने बताया है कि भगवान् के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है। इस प्रकार भगवान् में अखिल आचारों को अर्पित करते हुए उनमें परम प्रेम का होना तथा क्षणभर का वियोग होने पर भी परम व्याकुलता का अनुभव करना ही भक्ति है। इस प्रेम की प्रकृति वर्णनातीत है, गूंगे के गुड़ के सदृश है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ब्रज की गोपिकाएँ ही (यथा ब्रजगोपिकानाम्) इस प्रेम की आदर्श हैं। नारद ने आगे बताया है कि (सूत्र 22-24) ब्रजगोपिकाओं में भगवान् के माहात्म्यज्ञान की विस्मृति नहीं थी, क्योंकि महात्म्यज्ञान के विस्मरण से जारों के सदृश प्रेम हो जाता है (तद्विहीनं जाराणामिव)। अतः गोपियों का प्रेम जारों के साथ क्रिया जाने वाला प्रेम नहीं था, क्योंकि वे भगवान् के सुख में ही सुखी होती थीं। ब्रजगोपियों के समान जो भक्ति है वह श्रेष्ठतम है। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, यह भक्ति कर्मसाधना, योगसाधना और ज्ञानसाधना से श्रेष्ठ है—सातु

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्मज्ञानयोगेभ्यो प्यधिकतरा। कारण कि यह भक्ति स्वयं फलस्वरूप होती है—'स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमारः' जिसमें किसी जाति, विद्या, कुल, धन, क्रिया के आधार पर कोई भेद संभव नहीं है। विषय-त्याग, संग-त्याग, अखंड भजन, लोक में भी भगवद्गुण श्रवण एवं कीर्तन भक्ति-प्राप्ति के साधन हैं । लेकिन भगवद्कृपा ही प्रेमरूपा भक्ति का मुख्य साधन है। उक्त कृपा के लेशमात्र से ही यह सुलभ हो जाती है। महज्जनों की कृपा भी इसका साधन है, लेकिन वह दुर्लभ, अगम्य एवं अमोघ है। अतः भगवद्कृपा से ही महज्जनों का संग सुलभ होता है। भगवान् एवं महज्जनों में अभेद सम्बन्ध है। भक्ति के लिए सत्संगति आवश्यक है, लेकिन दुर्जनों की संगति सर्वथा त्याज्य है—'दुस्संगः सर्वथैव त्याज्यः', क्योंकि यह काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश, सर्वनाश का कारण है। जो विविक्त स्थान का सेवन करता है, लोकबन्ध का उन्मूलन कर देता है, त्रिगुणों से रहित हो जाता है, योगक्षेम का त्यागकर देता है, कर्मफल से आसक्ति रहित हो जाता है, कर्मों का भी त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाता है तथा वैदिक कर्मकाण्ड से संन्यास ले लेता है एवं असीम भगवद्प्रेम की प्राप्ति करता है, वही व्यक्ति स्वयं तरता है और लोक को भी तारता है। इस प्रेम का स्वरूप अनिर्वचनीय है—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्'। यह गूंगे के गुड़ के स्वाद की तरह अवर्ण्य है—मूकास्वादनवत्। किसी योग्य व्यक्ति में ही इस प्रेम का प्रकाशन हो पाता है। यह प्रेम त्रिगुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षणवर्धमान, अविच्छिन्न, सूक्ष्मतर और अनुभव रूप है। ऐसे प्रेम की उपलब्धि कर साधक भक्त उक्त प्रेम का ही अवलोकन, श्रवण, भाषण और चिन्तन करता है। भक्त के गुणों के आधार पर गौणी भक्ति के तीन भेद बताए गयें हैं—सत्व, रजस्, तमस्। गीता के समान आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी के आधार पर तीन भेद किये गये हैं। आर्त भक्त सात्विक भक्ति को, जिज्ञासु राजस भक्ति को तथा अर्थार्थी तामस भक्ति को धारण करता है। सात्विक भक्ति राजस् से तथा राजस् भक्ति तामस भक्ति से श्रेष्ठ होती है। देवर्षि नारद ने बताया है कि भक्ति स्वरूपतः एक प्रकार की ही होती है, फिर भी वह एकादश प्रकार की होती है—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति, आत्म-निवेदनासित्त, तन्मयासित्त और परमविरहासक्ति।

प्रेमभक्ति के स्वरूप का निर्वचन करते हुए बताया गया है कि यह स्वतः प्रमाण होती है, इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। कारण यह है कि यह भक्ति स्वयं में शांतिरूप और परमानन्द रूपा होती है। भक्ति के लक्षणों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि भक्त को लोक-हानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। भक्त के लिए स्त्री, धन, नास्तिक और बैरी के चरित्र श्रवणीय नहीं हैं। अभिमान, दम्भ त्याज्य है । भगवान् में अखिल आचारों को समर्पित कर देने के बाद भी यदि काम,

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

क्रोध, अभिमान आदि शेष रहते हैं, तो उन्हें भी भगवान् के प्रति समर्पित समझना चाहिए। भक्तों को किसी वाद-विवाद में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि भगवान् तर्कातीत होते हैं। तर्क का कोई अन्त नहीं होता तथा साथ ही तर्क से भ्रम ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार सर्वभाव से भगवान् का ही भजन करना चाहिए, भक्तिशास्त्रों का पालन करना चाहिए। भक्तों को अहिंसा, सत्य, शौच, दया, आस्तिकता आदि सदाचारों का पालन करना चाहिए। इस प्रकार सबमें भक्ति ही श्रेष्ठ है। लोकनिन्दा स्तुति की चिन्ता न करते हुए सनतकुमार, वेदव्यास, शुकदेव, शांडिल्य, गर्ग, हनुमान, विभीषण आदि भक्ति के आचार्यों ने एकमत से भक्ति को ही श्रेष्ठ बताया है। पूर्व के विवेचनों के आधार पर नारदभक्तिसूत्र में प्रवर्तित भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

देवर्षि नारद के मतानुसार भक्ति के दो भेद बताये गये हैं—प्रेमरूपाभक्ति और गौणी भक्ति जिनकी ऊपर चर्चा की गयी है। भागवत में बताया गया है कि स्वभाव और गुण के भेद से पुरुषों के भाव में भी विभिन्नता आ जाती है। जो भक्ति क्रोध से युक्त होकर हृदय में हिंसा, दम्भ अथवा मात्सर्य का भाव रखकर भेद दृष्टि से की जाती है, वह तामसी भक्ति है। विषय, यश और ऐश्वर्य की कामना से भेद दृष्टिपूर्वक प्रतिमा आदि के पूजन के रूप में जो भक्ति की जाती है वह राजसी है। जो भक्ति पापनाश के लिए, कर्मफलों को भगवान् में समर्पण करने के रूप में, तथा पूजन करना कर्तव्य है ऐसा समझकर भेद दृष्टिपूर्वक पूजन किया जाता है, वह सात्विकी भक्ति है।[173] भागवत में निर्गुण भक्तियोग का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखंड रूप से समुद्र की ओर प्रवाहित होता रहता है, उसी प्रकार भगवान के गुणों के श्रवण मात्र से मन की गति का तैल धारावत अविच्छिन्न रूप से सर्वान्तर्यामी भगवान के प्रति हो जाना तथा भगवान (पुरुषोत्तम) में निष्काम और अनन्य प्रेम का होना ही निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है।[174]

गौणीभक्ति साधनरूपा होती है। नवधाभक्ति भी साधनरूपा ही होती है। साधनरूपा होने के कारण इसे वैधी भक्ति भी कहते हैं। भागवत के अनुसार नवधाभक्ति के नौ भेद ये हैं—भगवान के गुण- लीला, नाम आदि का श्रवण, उन्हीं का कीर्तन, भगवान् के रूपनाम आदि का स्मरण, उनका चरण सेवन, पूजा-अर्चा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।[175] गीता में भगवद्भक्तों की चार श्रेणियाँ बतायी गयी हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। इन सबमें ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं, जो सर्वदा ब्रह्म के साथ संयुक्त रहता है और जिसकी भक्ति अनन्य होती है। ज्ञानी भक्त को भगवान् बहुत प्रिय हैं और भगवान् को वह बहुत प्रिय है।[176]

भक्तिपरायण होने के लिए गुरु का आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य है । गुरु अज्ञान का नाश करने वाला होता है। अद्वयतारकोपनिषद् में 'गु' शब्द का अर्थ

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अंधकार तथा 'रु' शब्द का अर्थ निरोधक बताया गया है अर्थात् गुरु अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके ज्ञान रूपी प्रकाश से शिष्य को प्रकाशित करता है। अतः भक्ति की प्राप्ति के लिए गुरु-कृपा सर्वप्रमुख साधन है।[177] नारद पंचरात्र में गुरु की महत्ता पर अत्यधिक जोर दिया गया है, क्योंकि साधन एवं साधक की दृष्टि से गुरु विष्णु से बढ़कर है। वस्तुतः गुरुरूप में हरि ही प्रत्यक्ष होते हैं। भक्त को चाहिए कि वह सद्गुरु के उपदेश के अनुसार शास्त्रों से सत्यज्ञान की प्राप्ति, आत्मसंयम, तप, शुचिता, क्षमा, निष्कपटता, दान, अहिंसा, पूर्ण समर्पण, गुणकीर्तन, सततस्मरण, उपासना, नामजप, महात्म्यश्रवणकथन, कृपा प्राप्ति का प्रयत्न आदि का अभ्यास एवं आचरण करें।[178] भागवत में बताया गया है कि परमकल्याण के आकांक्षी साधकों को सर्वप्रथम गुरु की शरण में जाना चाहिए। गुरु को अपना परमप्रियतम आत्मा और इष्टदेव मानना चाहिए। निष्कपट भाव से गुरू की सेवा करनी चाहिए तथा उनके निकट बैठकर भागवत धर्म की शिक्षा अर्थात् भगवान् को प्राप्त कराने वाले भक्तिभाव के साधनों की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। गुरु की भी योग्यता का निर्देश किया गया है। गुरु को शब्दब्रह्म का ज्ञाता होना चाहिए अर्थात् वेदों का पारदर्शी विद्वान् होना चाहिए। उनका चित्त शान्त होना चाहिए। भागवत में यह भी उल्लिखित है कि जो गुरु मृत्यु से परित्राण नहीं करता है वह गुरु नहीं है। इतना ही नहीं, गीता में गुरु-पूजन को शरीर सम्बन्धी तप माना गया है।[179]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भक्तिपरक रहस्यवाद के तत्वों का उल्लेख किया जा सकता है। भगवान के प्रति परमप्रेम ही भक्ति है। दूसरे, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग एवं योगमार्ग से भी भक्ति श्रेष्ठ है। तीसरे, भगवान् के प्रति अनन्यता होनी चाहिए अर्थात् भगवान् के अतिरिक्त अन्य आश्रयों का परित्याग करना चाहिए। चौथे, भगवान् के अनुकूल जो लौकिक एवं वैदिक आचार हैं वे ही करणीय हैं। पाँचवें, भगवान् से भिन्न वस्तु के प्रति अरुचि होनी चाहिए। छठे, भगवान् में अखिल आचारों का अर्पण करना एवं उनमें परमप्रेम का होना तथा क्षण भर का वियोग होने पर भी परम व्याकुलता का अनुभव करना ये भक्ति के लक्षण हैं। सातवें, भगवान् के माहात्म्यज्ञान की विस्मृति नहीं होनी चाहिए क्योंकि विस्मृति होने पर जार-सदृश प्रेम होगा। आठवें, इस प्रेमरूपा भक्ति का स्वरूप अनिर्वचनीय है, मूकास्वादनवत् है। नवें, विषय-त्याग, दुःसंग-त्याग, अखंडभजन, लोक में भी भगवद्गुणश्रवण एवं कीर्तन भक्ति प्राप्ति के साधन हैं। लेकिन भगवद्कृपा ही मुख्य साधन है। दसवें, भक्ति के लिए गुरु की शरण में जाना परमावश्यक है। ग्यारहवें, दुर्जनों का संग सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि दुर्जनों की संगति काम, क्रोध, मोह आदि का कारण होती है। बारहवें, गौणी भक्ति एवं नवधा भक्ति जो साधनरूपा होती है, प्रेमरूपा भक्ति की प्राप्ति में सहायक होती है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तेरहवें, प्रेमाभक्ति स्वतः प्रमाण होती है, वह साध्यरूपा एवं फलरूपा होती है। कारण कि यह स्वयं शांति रूपा और परमानन्दरूपा होती है। चौदहवें, यह भक्ति अमृत स्वरूपा होती है जिसकी उपलब्धि कर साधक सिद्ध हो जाता है, अमृत एवं तृप्त हो जाता है। इस प्रेमाभक्ति को प्राप्तकर भक्त वांछारहित, शोकरहित, द्वेषरहित हो जाता है, वह किसी वस्तु में रमता नहीं। वह मत्त, स्तब्ध, आत्माराम हो जाता है। अतः आप्तकाम एवं आत्मकाम हो जाता है।

ज्ञानपरक रहस्यवाद

उपनिषदें ज्ञानकाण्ड के रूप में जानी जाती हैं। उनमें उच्चतर ज्ञान और निम्नतर ज्ञान के रूप में ज्ञान का विवेचन किया गया है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार दो प्रकार के ज्ञान अथवा विद्याएँ जानने योग्य हैं—एक उच्चतर ज्ञान अर्थात् पराविद्या तथा दूसरा निम्नतर ज्ञान अर्थात् अपरा विद्या। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, निरूक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष का ज्ञान निम्नतर ज्ञान के अन्तर्गत आता है अर्थात् ये अपरा विद्याएँ हैं। अक्षर परमात्मा का ज्ञान उच्चतर ज्ञान है अर्थात् परा विद्या से मात्र अक्षर परमात्मा ही ज्ञेय है।[180] छान्दोग्योपनिषद् में आये नारद एवं सनत्कुमार के वार्तालाप से स्पष्ट हो जाता है कि अपरा विद्या का ज्ञान शोकसागर के पार उतारने वाला नहीं है। आत्मवेत्ता ही शोकसागर को पार करता है अर्थात् परा विद्या के ज्ञान से ही शोक समुद्र को पार किया जा सकता है। वस्तुतः आत्मज्ञान की उच्चता के समक्ष सभी बौद्धिक ज्ञान मात्र मौखिक शब्दजाल प्रतीत होते हैं। केनोपनिषद् के अनुसार शरीर धारण काल में ही आत्मानुभव अथवा आत्मज्ञान कर लेना श्रेयस्कर है। कठोपनिषद् भी कहती है कि इस जीवन तक यदि आत्मा को अनुभूत नहीं कर लिया गया तो जन्म-मरणशील लोकों में बार-बार शरीर धारण करना पड़ेगा।[181] बृहदारण्यक उपनिषद् में भी कहा गया है कि इस जन्म में आत्मा को जान लेना अमृत हैं एवं उसे न जानना हानिकर है।[182] इससे स्पष्ट है कि उपनिषदों में उच्चतर ज्ञान का संशक्त समर्थन किया गया है अर्थात् उपनिषदें आत्मानुभव या आत्मज्ञान को सर्वाधिक महत्व देती हैं ।

औपनिषद रहस्यवाद के तत्वों की चर्चा करते समय हमने देखा है कि उपनिषदें परमगति के साधन के रूप में ज्ञान पर बल देती हैं। आत्मा का ज्ञाता शोक सागर को पार कर लेता है—तरति शोकम् आत्मविद्। ब्रह्म का ज्ञाता वास्तव में ब्रह्म बन जाता है—ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। संपूर्ण नैतिकता ज्ञान के एक उपक्रम के रूप में है। किन्तु उपनिषदें परमगति के मूलसाधन के रूप में ज्ञान का संकीर्ण अर्थ में प्रयोग नहीं करतीं। वह आत्मा वेदज्ञान या बुद्धि या अत्यधिक विद्वता से सुलभ नहीं है। ज्ञान को गुण से सम्पन्न होना चाहिये। यदि ब्रह्म ज्ञान या परमार्थ विद्या का अभ्यर्थी नैतिक एवं अध्यात्मिक सन्नद्धता से पूर्ण नहीं है तो वह उत्साही एवं जिज्ञासु होने पर भी ग्रहणीय

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नहीं है। ज्ञान मात्र बौद्धिक योग्यता नहीं है। यह आत्म अनुभव है। अभ्यर्थी का मन सांसारिक विषयों के प्रति चंचल नहीं होना चाहिये। उसका हृदय पवित्र एवं ब्रह्म की भक्ति से आपूरित होना चाहिये। हम उपनिषदों में देखते हैं कि अभ्यर्थी को एक लम्बे काल तक नैतिक एवं आध्यात्मिक अनुशासन में रहना पड़ता है। उसके बाद ही ऋषि उन्हें ब्रह्मज्ञान प्रदान करते हैं। प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि अपने समीप ब्रह्मज्ञान के लिए आये छह अभ्यर्थियों को एक वर्ष और अनुशासन के अंतर्गत रहने के लिए कहते हैं। इसीलिए छांदोग्योपनिषद् में भी सत्यकाम जाबाल को गुरु की गायों की देखभाल करने के लिए जंगल में भेज दिया जाता है, जहाँ वह एकांत चिंतन कर सके एवं प्रकृति के साहचर्य में आ सके। जैसे वृक्ष फल देता है उसी प्रकार ज्ञान को भी कार्यरूप में परिणत करना चाहिए। यदि हममें ज्ञान है तो हमें सत्य को धारण करना चाहिए एवं उसे अपना बनाकर अपने में परिवर्तन करना चाहिए। बृहदारण्यकोपनिषद् का कहना है कि मात्र कर्म का कोई महत्व नहीं है। उसे तो आत्मा की एकता की भावना का प्रकाशन करना चाहिए। इससे यह भी स्पष्ट है कि कर्म को ज्ञान संवलित होना चाहिए। परमतत्व के प्रति श्रद्धा से रहित होकर किया हुआ कर्म निष्फल है।[183]

आत्मज्ञान की उपलब्धि के लिए गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु ही ज्ञानसाधना की प्रक्रिया को शुरू करता है। पूर्व के विवेचनों से इस तथ्य की पुष्टि की गई है। छांदोग्योपनिषद् के अनुसार आचार्य से जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है। कठोपनिषद् द्वारा भी इस तथ्य की पुष्टि होती है। आत्मज्ञान इतना सूक्ष्म एवं गुह्य है कि वह व्यक्तिगत प्रयास से उपलब्ध नहीं हो सकता। आचार्य या गुरु भी वही होना चाहिए जिसने परमात्मा के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया हो।

भगवद्गीता के रहस्यवाद की चर्चा करते हुए हमने देखा है कि गीता ज्ञानमार्ग की महिमा को स्वीकार करती है। वस्तुतः ज्ञानी पुरुष ही कर्म के कर्तृत्वाभिमान का परित्याग कर सकता है तथा भक्ति द्वारा ही भगवान् में सर्व कर्मों का समर्पण संभव है। गीता सम्मत-ज्ञान आत्मा की एकता का संपूर्ण अनुभव है। गीता के ज्ञानमार्ग की दो दिशाएँ हैं—पहली दिशा है सर्वभूतों में आत्मा का दर्शन (सर्वभूतस्थमात्मानम्) जिसमें सर्वभूत आधार है और आत्मा आधेय है। दूसरी दिशा है– आत्मा में सर्वभूतों का दर्शन (सर्वभूतानि चात्मनि) जिसमें आत्मा आधार है और सर्वभूत आधेय है। गीता के ज्ञानमार्ग की ये दो दिशाएँ एक दूसरे की पूरक हैं। ऐसे द्रष्टा पुरुष को समदर्शन (6/29) कहा गया है। उपर्युक्त ज्ञानमार्ग की प्रथम दिशा का दृष्टांत संसार में सर्वत्र सुलभ होता है। दूसरी दिशा का दृष्टांत भगवान् के देवदुर्लभ विराट् रूप में दिखायी देता है। अर्जुन ने दिव्यचक्षु से एक विराट् आत्मा के भीतर एक स्थान पर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखा। इस विराट् दर्शन का रहस्य 'एकस्थं कृत्स्नं जगत्' के प्रत्यक्ष दिखलाने में निहित है।

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

गीता में ज्ञानीपुरुष के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह दुर्लभ होता है। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' के अनुसार जो सब किसी को वासुदेव समझे, स्थूल से सूक्ष्म तक समस्त प्राणियों में एक ही अंतर्यामी पुरुष का साक्षात्कार करें, ऐसा ज्ञानी पुरुष दुर्लभ ही होता है। ऐसा पुरुष समदर्शी होता है। उसे विद्या-विनय संपन्न ब्राह्मण, बैल, हाथी, कुत्ते और चांडाल में समदृष्टि होती है। जैसा कि हमने पहले भी देखा है, भगवान् का भजन लोग चार प्रकार से करते हैं—अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। इन सबमें ज्ञानी पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वह सर्वदा ब्रह्म के साथ संयुक्त रहता है और उसकी भक्ति अनन्य होती है। ज्ञानी पुरुष को भगवान् बहुत अधिक प्रिय हैं तथा भगवान् के लिए भी वह सर्वाधिक प्रिय है—

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं सच मम प्रियः।।[184]

यों तो सभी प्रकार के साथ अच्छे होते हैं, लेकिन ज्ञानी पुरुष तो साक्षात् भगवद्स्वरूप ही होता है, क्योंकि पूरी तरह स्वयं को योग में लगाकर वह केवल भगवान् में ही स्थित हो जाता है।[185]

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आत्मसाक्षात्कार ही ज्ञानपरक रहस्यवाद का साध्य है। आत्मसाक्षात्कार कर लेने पर साधक स्थूल से सूक्ष्म तक समस्त प्राणियों में एक ही अंतर्यामी परमात्मा का दर्शन करता है। गीता के अनुसार ज्ञानमार्ग की दो दिशाएं हैं—सर्वभूतों में आत्मा का दर्शन तथा आत्मा में सर्वभूतों का दर्शन, जो एक दूसरे की पूरक हैं। ऐसा द्रष्टा पुरुष समदर्शन कहा गया है। दूसरे आत्मज्ञान की उपलब्धि आध्यात्मिक गुरु की सहायता से ही संभव है। तीसरे, इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिए साधक को आध्यात्मिक अनुशासन का पालन करना पड़ता है। अतः ज्ञानी पुरुष साक्षात् भगवद्स्वरूप ही होता है, क्योंकि वह अपने आपको योग में लगाकर केवल भगवान् में ही स्थित हो जाता है।

योगपरक रहस्यवाद

अति प्राचीनकाल से ही किसी न किसी रूप में योग का प्रयोग होता रहा है। कहा जाता है कि ईसा के सात सौ या आठ सौ वर्ष पूर्व लोग किसी एक विशेष वस्तु पर अपने मन को केंद्रित करने का अभ्यास किया करते थे। इस प्रकार मन की क्रियाओं और चित्तवृत्तियों को रोककर अद्भुत शक्ति उपलब्ध करते थे। ऐसा लगता है कि मन को शांत करने एवं चमत्कारी शक्ति पाने के लिए प्राचीनकाल में मन को केन्द्रित करने एवं श्वास-निरोध का अभ्यास किया जाता था।[186] ऋग्वेद में जूड़ा डालना या हल डालना, अनुपलब्ध की प्राप्ति, जोड़ना इत्यादि विभिन्न अर्थों में योग शब्द का प्रयोग हुआ है। यह भी देखा गया है कि जूड़ा डालने के अर्थ में योग शब्द का प्रयोग

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उतना नहीं हुआ है जितना अन्य अर्थों में। ऋग्वेद में धार्मिक एवं दार्शनिक विचारों के विकास के साथ-साथ धार्मिक यम-नियम और आचार को अधिक महत्व मिलता गया है। तप और ब्रह्मचर्य बहुत ऊँचे गुण के रूप में मान्य थे, साथ ही उन्हें उच्चतम शक्ति का स्रोत भी माना गया है। इस प्रकार धीरे-धीरे इन्द्रियों के नियंत्रण के संदर्भ में भी योग शब्द का प्रयोग होने लगा।[187]

प्राचीन और प्रारंभिक उपनिषदों में योग से संबंधित अनेक संकेत मिलते हैं। उपनिषदों के योग को अध्यात्म योग कहा गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जिस समय मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने व्यापार से निवृत्त होकर आत्मा में स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, वह परमगति की अवस्था है। 'स्थिर इन्द्रिय धारणा' की उक्त स्थिति को योग कहते हैं। कठोपनिषद् आगे कहती है कि उस समय पुरुष प्रमादरहित हो जाता है, क्योंकि योग ही उत्पत्ति एवं नाशरूप है—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामा हुः परमांगतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥[188]

योग सिद्धांत की दृष्टि से श्वेताश्वतरोपनिषद् विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसके दूसरे अध्याय में योगाभ्यास एवं योगदर्शन के प्रारंभिक स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम यह योगाभ्यास में शरीर की स्थिति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है जिसमें सिर, ग्रीवा एवं वक्षस्थल को ऊँचा रखते हुए शरीर को सीधा रखने की बात कही गयी है। इस संदर्भ में आसनों का विवेचन नहीं है। दूसरे, मन द्वारा इंद्रियों पर नियंत्रण रखने का निर्देश दिया गया है। यह प्रक्रिया प्रत्याहार के समान ही है। तीसरे, श्वास-संचालन की बात कही गयी है जो परवर्ती प्राणायाम का पूर्व रूप है। चौथे, योग का अभ्यास करने के समय वातावरण शुद्ध होना चाहिए। इस प्रकार ऐसे स्थान पर ध्यान करना चाहिए जो समतल, पवित्र, अग्नि एवं बाल आदि से रहित तथा कोलाहल एवं पनघट आदि से दूर हो। ऐसा स्थान गुहा है। पाँचवें, इस दूसरे अध्याय से स्पष्ट है कि ब्रह्माभिव्यक्ति होने के पूर्व कुहरा, धूप, सूर्य, अग्नि आदि का दर्शन होता है। छठे, हमें योगाग्नि के द्वारा संपन्न शारीरिक प्रभाव के रहस्यात्मक तत्व का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यह बताया गया है कि जो योगाभ्यास करता है वह कालरहित एवं अमर हो जाता है और अपने शरीर को हल्का एवं पूर्ण स्वस्थ अनुभव करता है। अंत में श्वेताश्वतरोपनिषद् योगाभ्यास द्वारा व्यक्ति आत्मा को समाधि की अवस्था तक ले जाती है जहाँ वह विश्वात्मा के दर्शन करती है तथा उसके साथ एकाकार हो जाती है। इस संदर्भ में यह भी द्रष्टव्य है कि समाधि की तैयारी के रूप में धारणा और ध्यान की प्रक्रिया इस

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

उपनिषद् में अलग-अलग संकेतित नहीं है। कारण यह है कि दोनों समाधि के भाग के रूप में देखे जा सकते हैं तथा इस प्रकार ये सर्वोच्च अवस्था समाधि के साथ संयुक्त होने में भी समर्थ है।[189] कठोपनिषद् में धारणा का संकेत है जिसके अनुसार इन्द्रियों, मन एवं बुद्धि की विस्तृत स्थिरता ही धारणा है। इसे योग की सर्वोच्च अवस्थां कहा गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी ध्यान का संकेत है जहाँ कहा गया है कि ब्रह्म का ध्यान करें और अपने हृदय में छिपे उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष करें। इस प्रकार यदि हम परवर्ती योगदर्शन के यम-नियम को योग के विभिन्न तत्वों से जोड़ दें तो हमें अष्टांगयोग का पूर्ण स्वरूप उपलब्ध होता है। योग के विभिन्न तत्वों में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान—ये समाधि तक पहुँचने के सोपान हैं। इनका संकेत प्राचीन उपनिषदों में उपलब्ध है । योगसूत्रों में विकसित ब्रह्म की आस्तिक अवधारणा मूलतः उपनिषदों में प्राप्य है। जैसे, मुंडकोपनिषद् में कहा गया है कि विश्वात्मा मात्र दिखायी देता है जब कि व्यक्ति आत्मा प्रकृति के भोग में तल्लीन दिखायी देता है; उसी प्रकार कठोपनिषद् में परमात्मा को शोकसंसार की पहुँच से परे बताया गया है, जैसे विश्व का नेत्र सूर्य दृष्टि-दोष की पहुँच से परे है। कौषीतकि और मैत्री उपनिषदों के समय में योग के शरीरशास्त्रीय आधार का विवेचन हुआ था। मैत्री उपषिद् में सात धातुओं (अस्थि, चर्म, स्नायु, मज्जा, मांस, शुक्र, शोणित), चार मलों (श्लेष्मा, अश्रू, विष्टा, मूत्र) और तीन दोषों (वात, पित्त, कफ) की गणना की गयी है। कौषीतकि उपनिषद् में कहा गया है कि रक्त नाड़ियाँ जो हृदय से पुरीतत तक जाती हैं, सहस्रधा विभाजित केश से भी सूक्ष्म हैं। ये नाड़ियाँ या तो भूरे रंग की हैं या कुछ शुक्ल या कृष्ण या पीले या लाल रंग की हैं। कौषीतकि के पूर्व इन रक्त-नाड़ियों को थोड़ी-सी भिन्नता के साथ छान्दोग्योपनिषद् में भूरा, सफेद, नीला, पीला, लाल कहा गया है तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में इन्हें सफेद, नीला, भूरा, हरा और लाल कहा गया है।[190]

इसी प्रकार योगसिद्धान्त से संबद्ध अनेक संकेत उपनिषदों में उपलब्ध होते हैं। जैसे बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार संपूर्ण शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ व्याप्त हैं। इसी प्रकार कठ एवं प्रश्नोपनिषद हृदय में एक सौ एक नाड़ियों की स्थिति मानती हैं। प्रश्नोपनिषद् के अनुसार इन एक सौ एक नाड़ियों में से प्रत्येक की सौ-सौ शाखायें और प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं जिनमें व्यान संचार करता है। इनमें से एक उदान का संवहन करनेवाली है जिसे शंकराचार्य ने सुषुम्ना कहा है। कठोपनिषद् इस अजन्मा आत्मा के पुर को ग्यारह दरवाजों वाला बताती है। यह उपनिषद् प्राण को ऊपर की ओर ले जाने और अपान को नीचे की ओर ले जाने की प्रक्रिया द्वारा हृदय के मध्य में स्थित वामन की उपासना का विवेचन करती है।[191] मुण्डकोपनिषद् संन्यास-योग का विवेचन करती है। इसी तरह श्वेताश्वतरोपनिषद् ध्यान-

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

योग का विवेचन करती है। यह उपनिषद् शरीर में नवद्वारों की स्थिति मानती है। मैत्री उपनिषद् तो षडंग योग के अंतर्गत प्रणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि का संकेत करती है।[192]

गीता में योग शब्द का प्रयोग 'युज्समाधौ' वाले अर्थ के साथ 'युजिर् योगे' वाले अर्थ में भी हुआ है। गीता के अनुसार जो योगी अपने आप को समाधि में खो देता है, वह सर्वोच्च सत्ता का पात्र माना जाता है। इस प्रकार योग शब्द एक ओर समाधि का अर्थ देता है तो दूसरी ओर मिलन या संयोग का। गीता इन दोनों के बीच एक मध्यम मार्ग निकालना चाहती है।[193] डॉ० दासगुप्त ने आगे लिखा है कि योग शब्द का प्रयोग, गीता में, कई अर्थों में हुआ है, लेकिन वे एक दूसरे से असंबंधित से प्रतीत होते हैं। उन अर्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का अन्वेषण किया जा सकता है। पीछे के पृष्ठों में इन सबका विवेचन किया गया है। गीता में योग के प्रारंभिक अर्थ की व्युत्पत्ति 'युजिर-योगे' अथवा युज धातु से मानी गई है जिसका अर्थ है मिलाना। यह निषेधात्मक रूप में नियंत्रण अथवा निरोध के अर्थ में युज् धातु से संबद्ध है। मिलने का अर्थ है किसी वस्तु से संपर्क स्थापित करना तथा साथ ही किसी अन्य से विच्छेद करना भी। किसी विशिष्ट मानसिक दृष्टिकोण को अपनाने अथवा कर्म को करने के प्रसंग में बुद्धियोग शब्द का प्रयोग होता है। बुद्धियोग शब्द का अर्थ है किसी विशिष्ट प्रकार की बुद्धि और मानसिक दृष्टिकोण को अपनाना। इसी तरह कर्मयोग शब्द का अर्थ है नित्य नैमित्तिक कर्मों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना। योग शब्द का अर्थ है आत्मा अथवा ईश्वर पर चित्त को स्थिर करना। इन सभी अर्थों में मुख्य है मिलन जिसमें वियोग अर्थात् विच्छेद का अर्थ भी सम्मिलित है। विच्छेद का अर्थ है भोगेच्छा-त्याग और फल त्याग। गीता में अनेक स्थानों पर कर्म-फल त्याग को योग कहा गया है। गीता के छठे अध्याय में संन्यास को योग कहा गया है। संकल्प-त्याग के अभाव में कोई भी पुरुष योगी नहीं बन सकता। इस प्रकार योगारूढ़ होने के लिए विषयों एवं कर्मों में आशक्ति को जीतना तथा कर्म-फलेच्छा का परित्याग आवश्यक है । अतः हम देखते हैं कि गीता में योग की अनेक परिभाषाएँ देखने को मिलती हैं जिसकी ओर पीछे के पृष्ठों में संकेत किया गया है। योग को कर्मयोग कहा गया है और उसे सांख्ययोग अर्थात् ज्ञानयोग से भिन्न समझा गया है। गीता के अनुसार कर्मयोग योगियों का मार्ग है। गीता में भक्तियोग और बुद्धियोग का अनेकशः प्रयोग हुआ है। उन प्रयोगों में योग का अर्थ संयुक्त होना ही अनुकूल प्रतीत होता है। योग का उपर्युक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही गीता का मुख्य विषय है। गीता के अनुसार अपने नित्य कर्मों का संपादन करते रहना चाहिए। यह कर्तव्यपरायणता ही कर्मयोग है। निष्काम्य कर्मों का संपादन करना ही कर्म में कुशलता है, क्योंकि व्यक्ति इसी से योगयुक्त होने अथवा आत्मलाभ में समर्थ होता है। इस प्रकार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

कर्म करने में कुशलता को योग कहा गया है (योगः कर्मसु कौशलम्)। गीता में मन की समता को भी योग कहा गया है (समत्वं योग उच्यते)। गीता में योग में स्थित होकर, सब प्रकार की आसक्ति को त्यागकर, सफलता और विफलता में मन को समान रखते हुए कर्म करने की बात कही गई है, क्योंकि मन की समता ही योग कहलाती है। यहाँ समत्व का अर्थ है आंतरिक संतुलन जिसके द्वारा क्रोध, आशुक्षोभ, अभिमान और महत्वाकांक्षा पर विजय संभव है। गीता में दुःखों के साथ संयोग से अलग हो जाने को भी योग कहा है—तं विद्यात् दुखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। गीता के अनुसार इस योग का अभ्यास दृढ़ संकल्प और अनुद्विग्न चित्त द्वारा करना चाहिए। वासनाओं से अविचलित और राग (आसक्ति) से अविक्षुब्ध योगस्थ योगी की उपमा निर्वात स्थान में रखे हुए दीपक की स्थिर ज्योति से दी गयी है। इस परमस्थिति को प्राप्त योगी को ब्रह्मभूत की संज्ञा दी गयी है। योगयुक्त योगी अपनी आत्मा में सर्वभूतों का दर्शन करता है और सर्वभूतों में अपनी आत्मा का दर्शन करता है। योगयुक्त होने के कारण योगीब्रह्मभूत होकर सभी भूतों में ईश्वर को देखता है और ईश्वर में सभी भूतों का दर्शन करता है। इस प्रकार गीता के अनुसार, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, योग के विविध अर्थों एवं परिभाषाओं को प्रस्तुत किया गया। गीता में योगी के लिए अनेक प्रकार के आचारों की भी चर्चा की गयी है। चंचल मन को एकाग्र करने के लिए आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि योगसाधनों का भी उपदेश गीता देती है।

योग का विवेचन पांचरात्र संहिता-साहित्य में भी देखने को मिलता है। जयाख्य संहिता में भक्त को योगी कहा गया है। चरम लक्ष्य की उपलब्धि के लिए इसमें दो मार्ग बताये ये हैं—(1) ध्यान (लयात्मक) समाधि, (2) मंत्रजप की साधना। योग के विषय में कहा गया है कि योगी को अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना चाहिए तथा प्रत्येक प्राणी के साथ द्वेषरहित होना चाहिए। एकान्त स्थान पर बैठकर अत्यन्त विनम्रभाव से योगी का प्राणायाम द्वारा अपने चित्त पर नियंत्रण लाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। तदनन्तर प्राणायाम की तीन विधियों के साथ प्रत्याहार, ध्यान और धारणा का भी उल्लेख किया गया है। योग के तीन प्रकार बताये गये हैं—प्राकृत, पौरुष और ऐश्वर्य। लेकिन इनका अर्थ स्पष्ट नहीं किया गया है। ऐसा लगता है कि इनका अर्थ तीन विषय पर ध्यान केन्द्रित करना है—जैसे क्रमशः प्रकृति के मूल तत्वों पर, पुरुष पर और आश्चर्यजनक सिद्धियों को दिलाने वाले योग पर। आसन भी चार प्रकार के बताये गये हैं—पर्यंक, कमल, भद्र और स्वस्तिक। योग का मूल उद्देश्य है मनोनिग्रह (चित्त संयम)। यह निग्रह दो प्रकार का होता है—(1) वातावरण से उत्पन्न मन की वृत्तियों का निग्रह, (चित्त) की स्वाभाविक वृत्तियों का निग्रह। सत्व गुण के उद्रेक से ही मन को किसी विषय पर ध्यानस्थ किया जा सकता है। एक दूसरे विभाजन के अनुसार योग के

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तीन प्रकार हैं—सकल, निष्कल और विष्णु अर्थात् शाब्द, व्योम एवं सविग्रह। सकल या सविग्रह योग में इष्टदेव की स्थूल मूर्ति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। निष्कल योग में योगी अंतिम सत्य का ध्यान करता है जिससे स्वयं ब्रह्म होने का उसे ज्ञान हो जाता है। तीसरे योग में मंत्रों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इस योग से भी योगी को अंतिम सत्य का साक्षात्कार होता है।[194]

विष्णुसंहिता में भागवतयोग का वर्णन किया गया है। भक्ति की उत्पत्ति के लिए प्रयुक्त योग को ही विष्णुसंहिता में भागवत् योग कहा गया है। उक्त भागवत योग में शरीर और मन के नियंत्रण की प्रधानता है। इसमें क्रोध, तृष्णा आदि का संयम, एकान्त स्थान में ध्यान करने का अभ्यास, ईश्वर की शरणागति और आत्मनिरीक्षण का भी समावेश कर लिया गया है। इसके फलस्वरूप जब चित्त निर्मल और सांसारिकता से विरक्त हो जाता है तब विवेक-बुद्धि जागृत होती है जिससे सत् असत्, भले-बुरे में भेद स्पष्ट हो जाता है। इससे राग या भक्ति की उत्पत्ति होती है। भगवान् से समरस प्राप्त करने के लिए प्राणायाम को स्वीकृति दी गयी है। इस प्राणायाम में अनेक प्रकार के ध्यानों का विधान है। यहाँ भक्ति को सफल करने के लिए योग को ही साधन माना गया है। विष्णुसंहिता के अनुसार भक्त को योगी बनना आवश्यक है। परमसंहिता में कहा गया है कि योग के ज्ञान बिना किये हुए कर्म इष्ट फल नहीं दे सकते। योग का अर्थ है चित्त का किसी विषय पर बिना क्षोभ के समाधान होना। कर्मयोग उसे कहते है जिसमें चित्त कर्म करने में दृढ़ता से स्थिर हो जाता है। ज्ञानयोग उसे कहते हैं जिसमें चित्त ज्ञान पर अस्खलित रूप से लग जाता है। गीता में कर्मयोग का अर्थ है बिना फलाशा के शास्त्र में कहे गये वर्ण-धर्म का पालन करना। यहाँ कर्मयोग को यम-नियम युक्त नैतिक साधन के रूप में स्वीकार किया गया है जिसमें व्रत, उपवास, दान तथा संभवतः आत्मनिग्रह से प्राप्त विविध गुणों का समावेश है। इन्द्रियों का विषय से पराङ्मुख होना ही वैराग्य है। जिस ज्ञान द्वारा चित्त ईश्वर में अस्खलित रूप से लग जाय, उसे समाधि कहते हैं। जब इन्द्रियाँ वैराग्य द्वारा अपने विषयों से निरोधित हो जाती हैं तब चित्त ईश्वर में दृढ़ता पूर्वक लग जाता है। इसे ही योग कहते हैं।[195]

अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा का संयोग ही योग है– 'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः'। परमोच्च सत्ता तक पहुँचने के लिए अहिर्बुध्न्य संहिता में दो मार्ग बताये गये हैं—(1) विष्णु की एक शक्ति के रूप में ध्यान लगाकर किया हुआ आत्मसमर्पण या हृदयोग, (2) योग। इस दृष्टि से जिस योग द्वारा जीवात्मा और परमात्मा का संयोग संभव होता है वह अष्टांग है। ये अष्टांग हैं— यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम से सत्य, दया, धृति, शौच, ब्रह्मचर्य, क्षमा, आर्जव, मिताहार, अस्तेय, अहिंसा की गणना की

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

जाती है। नियम के अन्तर्गत सिद्धान्त श्रवण, दान, मति, ईश्वर-पूजन, संतोष, तप, आस्तिक्य, ह्री, मंत्रजप, व्रत का समावेश है। डॉ० दासगुप्त के अनुसार, यद्यपि यहाँ जीवात्मा एवं परमात्मा के संयोग को ही योग कहा गया है और पातंजलि की दृष्टि में चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है, तथापि अहिर्बुध्न्य संहिता का रचयिता पातंजल योगानुशासन से परिचित है।[196]

पतंजलि के अनुसार चित्तवृत्तिनिरोध ही योग है (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः)। जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है, उस द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। जब तक योग साधनों द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं हो जाता, तब तक द्रष्टा अपने चित्त की वृत्ति के ही अनुरूप अपना स्वरूप समझता है, उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता ।[197] यहाँ योग का अर्थ आत्मा और परमात्मा अर्थात् किसी परमतत्व का मिलन नहीं है। अर्थात् पतंजलि के अनुसार आत्मा या पुरुष को चित्त की विभिन्न वृत्तियों की अभिन्नता से निरूद्ध करना ही योग का लक्ष्य है।[198] वस्तुतः योगशब्द समाध्यर्थक युज् धातु (युज समाधौ) से निष्पन्न बताया गया है। इस प्रकार योग का व्युत्पत्तिलम्य अर्थ है—समाधि।[199] पातंजल योगसूत्र में चित्तवृत्तियों के पाँच प्रकार बताये गये हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। चित्त ही इन वृत्तियों का कारण है। अतः जब इन वृत्तियों का प्रवाह अपने कारण चित्त में लीन होकर रुक जाता है तब उसे चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं। योगसूत्रकार के अनुसार अभ्यास एवं वैराग्य से चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। गीता में भी भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि अभ्यास एवं वैराग्य से मन वश में होता है।[200] भाष्यकार व्यास ने चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग को समाधि कहा है—योगः समाधिः।[201] द्रष्टव्य है कि "पातंजल योग दर्शन में प्रयुक्त योग शब्द समाधि का समानार्थक ही है यद्यपि शास्त्रकारों ने योग और समाधि दोनों शब्दों का प्रयोग कभी भाव व्युत्पन्न रूप में और कभी करण व्युत्पन्न रूप में किया है। इस प्रकार योग को अंगी या साध्य और समाधि को अंग या साधन कहने की अपेक्षा यह कहना ठीक होगा कि पातंजल योगशास्त्र में भावव्युत्पन्न रूप में प्रयुक्त योग या समाधि को अंगी या साध्य एवं करणव्युत्पन्न रूप में प्रयुक्त योग या समाधि को अंग या साधन मानकर दोनों शब्दों के समानार्थक होने का सिद्धांत स्वीकार किया गया है।"[202]

योगसूत्रकार के अनुसार इन चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने पर संप्रज्ञात समाधि की अवस्था की प्राप्ति होती है जिसके क्रमशः चार अवांतर भेद बताये गये हैं—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता। महर्षि पतंजलि ने यह भी बताया है कि 'ईश्वर प्रणिधान' द्वारा भी उक्त समाधि की प्राप्ति होती है। 'इश्वर प्रणिधान' का अर्थ है कि ईश्वर की भक्ति या ईश्वरशरणागति। जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से असंबद्ध है तथा समस्त

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

पुरुषों से उत्तम है वह ईश्वर है। ओंकार (प्रणव) ही उस ईश्वर का वाचक है। ओंकार का जप ही उस ईश्वर के अर्थस्वरूप का भावन (चिंतन) करना है। इस साधन से विविध अंतरायों (विघ्नों) का अभाव हो जाता है। ये अंतराय अथवा चित्तविक्षेप नौ हैं—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अवस्थिततत्व। इन विक्षेपों के साथ होनेवाले पाँच विघ्न और हैं—दुःख, दौर्मनस्य, अंगमजयत्व, श्वास, प्रश्वास। योगसूत्रकार ने इन विघ्नों को दूर करने के उपायों की भी चर्चा की है। ये उपाय हैं—एकतत्वाभ्यास, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा से चित्त का प्रसादन, प्राणवायु का अभ्यास, वीतरागता, ध्यान आदि।[203] समाधिपाद के अंत में सवितर्क़ समापत्ति, निर्वितर्का, निर्विचारा, सबीज, निर्बीज, समाधि का भी वर्णन द्रष्टव्य है।[204]

महर्षि पतंजलि ने साधनपाद के प्रारंभ में ही क्रियायोग की चर्चा की है जिसके अंतर्गत तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान की गणना की गयी है। यह क्रिया योग समाधिभावन (समाधि की सिद्धि) करनेवाला तथा अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश इन पाँच क्लेशों को क्षीण करने वाला होता है।[205] आगे बताया गया है कि योगांगों के अनुष्ठान से अशुद्धिक्षय होता है और विवेक ख्याति से ज्ञानदीप्ति की प्राप्ति होती है। योगांग आठ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहर, धारणा, ध्यान और समाधि । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह ये पाँच यम हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, एवं ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। द्रष्टव्य है कि तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान को ऊपर क्रियायोग कहा गया है। समाधिपाद में ही ईश्वर प्रणिधान को समाधि के उपाय के रूप में स्वीकार किया गया है। योग सूत्रकार ने यह भी कहा है कि जब वितर्क (यम-नियमों के विरोधी हिंसादि भाव) यम-नियम के पालन में बाधा पहुँचावे तब उनके प्रतिपक्षी विचारों का निरंतर चिंतन करना चाहिए। साधनपाद में ही आगे चलकर कहा गया है कि स्वाध्याय में इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है और ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।[206] वैसे वाचस्पति मिश्र ने साधनपाद में आए हुए प्रणिधान की व्याख्या में उसे परमगुरु में सभी कर्मों का अर्पण कहा है।[207] योगसूत्रकार ने निश्चल सुखपूर्वक बैठने की क्रिया को आसन कहा है—स्थिर सुखमासनम्। उक्त आसन की सिद्धि होने के पश्चात् श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना ही प्राणायाम है। प्राणायाम के अभ्यास से मन में धारणा की योग्यता भी आ जाती है। अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार सा हो जाना ही प्रत्याहार है।[208]

महर्षि पतंजलि ने विभूतिपाद नामक तीसरे पाद में धारणा, ध्यान और समाधि इन अंतिम तीन अंगों का वर्णन किया है। इसके पूर्व के पाँच अंग बहिरंग साधन हैं अंतिम तीन अंतरंग। धारणा, ध्यान और समाधि जब किसी एक ध्येय में पूर्णतया किये जाते हैं

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तब इन्हें संयम कहते हैं। किसी एक देश में (बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी) चित्त को ठहराना धारणा है। जहाँ चित्त को लगाया जाय उसी में वृत्तियों का एकतार चलना ही ध्यान है। जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना अर्थात् केवल ध्येय मात्र की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, उसके बीच में किसी भी दूसरी तरह की वृत्ति का न उठना ही ध्यान है। जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है। इस प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि का एकत्र ही संयम है।[209] इसके पश्चात् समाधि की प्रकृति का विवेचन किया गया है। साथ ही पतंजलि ने विस्तार से विभूतियों अथवा सिद्धियों का वर्णन किया है। बताया गया है कि सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, नाभिचक्र, कंठकूप, कर्माकार, नाड़ी, मूर्धा, हृदय पर ध्यान करने से अनेक प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति होती है।[210] इसी प्रकार चतुर्थ पाद में जन्म, औषधि, मंत्र, तप एवं समाधि से होनेवाली सिद्धियों की भी चर्चा की गयी है।[211]

कहा जा सकता है कि कैवल्य या स्वरूपप्रतिष्ठा ही पातंजल योग का लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिए अनेक उपाय बताये गये हैं—मंत्र, तप, औषधि, समाधि या अष्टांगसाधन आदि, किन्तु इनमें पतंजलि समाधि या अष्टांगसाधन को श्रेयष्कर मानते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार से जब चित्त के क्लेश, कर्म, विपाक आदि विक्षेप सभी दूर हो जाते हैं तब क्रमशः सवितर्क, निर्वितर्क, आनन्द और अस्मिता सबीज समाधियाँ प्राप्त होती हैं। धारणा, ध्यान एवं समाधि से असंप्रज्ञात समाधि की उपलब्धि होती है जिसमें अंत मे विवेकज्ञान, धर्ममेधा, कैवल्य की प्राप्ति होती है। यही निर्बीज अथवा असंप्रज्ञात समाधि है, यही कैवल्य या स्वरूपप्रतिष्ठा है। पातंजल योग में एक ऐसे ईश्वर की कल्पना है जिसमें प्रणिधान करने से समाधि की प्राप्ति होती है। इसे प्रकृति-पुरुष से परे भी बताया गया है। यहाँ जीवनमुक्ति के सिद्धांत को स्वीकार करते हुए भी ऐसी मुक्ति स्वीकार्य नहीं है जिसमें इच्छानुसार शरीर त्याग हो सके। पातंजल योग में कार्यसिद्धि का वर्णन नहीं है। परवर्ती योगपद्धति के आधार पर कहा जा सकता है कि संपूर्ण योग का विभाजन दो बृहत् समूहों में किया जा सकता है—हठ योग और राजयोग। हठयोग कायसाधन अथवा बहिरंग साधन पर बल देता है। राजयोग के अंतर्गत मानसिक या अंतरंग साधन या चित्त के केन्द्रीकरण अथवा ध्यान एवं समाधि पर जोर दिया जाता है। पातंजलयोग में अंतरंग एवं बाह्य दोनों साधनों का समन्वय है।[212]

सामान्यतया योग के निम्नलिखित प्रकार बताये जाते हैं—मंत्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। ये विभिन्न प्रकार की साधनाएँ चित्त की विभिन्न प्रकार की वृत्तियों को नियंत्रित करती हैं और विभिन्न मार्गों से ब्रह्म-साक्षात्कार कराती हैं। ये सभी अष्टांगयोग को स्वीकार करते हैं। इन सबका एक ही लक्ष्य है—ब्रह्मसाक्षात्कार का

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अनुभव। इनके साधन और परिणाम की मात्रा में ही केवल भेद होता है। मंत्रयोग की समाधि में महाभाव, हठयोग की महाबोध, लययोग की महालय और इसी प्रकार राजयोग एवं ज्ञानयोग की समाधि है कैवल्यमुक्ति।[213] मंत्रयोग का सम्बन्ध शरीर से बाहर की वस्तुओं से माना जाता है जिसमें बाहरी पदार्थों से सम्बद्ध क्रियाविधानों पर विशेष बल दिया जाता है। इसमें वर्णाश्रम धर्म के विधान पर भी ध्यान दिया जाता है, नर-नारी के कुलधर्मों पर भी विचार होता है। स्त्री और पुरुष के मंत्र अलग-अलग होते हैं। इसी प्रकार जो मंत्र ब्राह्मण को दिया जाता है वह शूद्र के उपयुक्त नहीं हो सकता। मंत्रयोग में मनन के विषय हैं—देवी, देवता, उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ, विभिन्न प्रतीक। इसकी समाधि का नाम है महाभाव जिसकी प्राप्ति नामरूप के मनन से होती है तथा जिसके लक्षण है स्थैर्य और अनिर्वचनीयता। हठयोग स्थूल शरीर प्रधान साधन है। इसमें योग्यता का निर्णय शरीर की दृष्टि से होता है। शरीर की रक्षा, वृद्धि और उसकी रोगमुक्ति के लिए इसमें नियमों का विधान किया जाता है। हठयोग में ज्योति का ध्यान किया जाता है जिससे महाबोध समाधि की उपलब्धि होती है। प्राण और अन्य वायुओं का नियमन ही इस संमाधि की प्राप्ति के साधन हैं। 'ह' और 'ठ' वर्णों के योग से हठ शब्द निर्मित है जिसका अर्थ है सूर्य और चन्द्र अर्थात् प्राणवायु और अपानवायु। हृदयस्थ प्राण मूलाधारस्थ अपान को आकर्षित करता है और अपान प्राण को आकर्षित करता है। अपनी विषमगति के कारण ये दोनों एक दूसरे को शरीर छोड़ने से रोकते हैं। किन्तु समगति होने पर दोनों शरीर को छोड़ देते हैं। प्राण एवं अपान का सुषुम्ना में योग और उस योग की स्थिति तक ले जानेवाली क्रिया को प्राणायाम कहते हैं । इस प्रकार हठयोग प्राणशक्ति विज्ञान है। पिण्डप्राण विश्वप्राण का एक अंश है। हठयोग प्राणायाम प्रधान साधन है। हठयोग के अन्य साधनों में नाड़ी शुद्धि प्रधान है। हठयोग घटस्थ योग है जिसके सात साधन हैं—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष, निर्लिप्ति जिनकी प्राप्ति क्रमशः षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान एवं समाधि से होती है। षट्कर्म हैं—धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक, कपाल भाति जिनसे शरीर-शोधन होता है और साधक योगांगों का अनुसरण करने में समर्थ होता है। मुद्रा मोद देती है। इन्द्रियों का उनके विषयों से बलात् आहरण प्रत्याहार है। प्राणायाम से लाघव की प्राप्ति होती है। प्राणायाम से चित्त में धारणा की योग्यता आती है। समाधि चित्त की सघन एकाग्रता है। इस प्रकार हठयोग का सम्बन्ध शरीरस्थ नाड़ियों के शोधन, शरीर में स्थित विभिन्न प्रकार के वायुओं के नियंत्रण एवं संयमन से हैं।[214]

लययोग को कुंडलिनी योग, षट्चक्रभेद, भूतशुद्धि आदि नामों से भी जाना जाता है। जीव के शरीर में कुंडलिनी शक्ति का निवास होता है । यह जीव की सामान्य अवस्था में मूलाधार में कुंडलित सर्प के रूप में सुषुप्त पड़ी रहती है। इसके जागरण से

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

योग सुलभ होता है, अतः इसे कुंडलिनी योग कहते हैं। जागरित होकर यह छह चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रारस्थ शिव से मिलन करती है, अतः इसे षट्चक्रभेद भी कहते हैं। इस क्रिया से शरीर के तत्वों का शोधन होता है, अतः इसे भूतशुद्धि भी कहते हैं। कुंडलिनी के ऊर्ध्वगमन करने पर अंत में सभी भूत तत्वों, अन्य पिंडगत सृष्टितत्वों का कुंडलिनी के साथ ही सहस्रारस्थ परमशिव चैतन्य में लय हो जाता है, फलतः इसे लययोग कहते हैं। राजयोग मानसिक या अंतरंग साधन पर जोर देता है अर्थात् चित्त के केन्द्रीकरण या ध्यान और समाधि पर जोर देता है। समाधियोग के छह भेद बताये गये हैं जिनमें राजयोग भी एक प्रकार है। घेरंड संहिता के अनुसार हठयोग द्वारा राजयोग की सिद्धि होती है। हठयोग में प्राणायाम प्रधानरूप से मोक्षोत्पादक माना जाता है। यही प्राणायाम मंत्रयोग, लययोग और राजयोग में एक सहायक के रूप में स्वीकार किया जाता है। हठयोगप्रदीपिका में भी कहा गया है कि राजयोग में आरूढ़ होने के लिए हठयोगविद्या का अभ्यास करणीय है । उसकी टीका के अनुसार राजयोग सर्ववृत्तिनिरोध करता है। राजयोग को असंप्रज्ञात योग भी कहते हैं।[215]

कर्मपरक रहस्यवाद

वेदों में कर्मकाण्डात्मक अर्थात् याज्ञिक रहस्यवाद का दर्शन होता है । हमने देखा है कि उक्त रहस्यवाद में यज्ञ को ही सर्वशक्तिशाली माना गया है। इसमें कर्मफल की इच्छा से ही कर्मों का संपादन होता था। वस्तुतः याज्ञिक क्रियाविधान की ही इसमें प्रधानता होती है। कर्मकाण्डीय सिद्धान्त के अनुसार इस लोक अथवा परलोक में फल की आशा से कर्मसंपादन होता है; लेकिन उपनिषदें इस सिद्धांत में विश्वास नहीं करतीं । वे तो निर्लिप्त एवं निष्काम भाव से कर्मसंपादन के लिए कहती हैं। सच्चा व्यक्ति वह नहीं है जो संसार का परित्याग करके निर्जन स्थान में निवास करता है, प्रत्युत वह है जो संसार में रहते हुए ही संसार की वस्तुओं आदि से अपने लिए नहीं अपितु वस्तुओं में संगुप्त असीम वैश्व तत्व के लिए ही प्रेम करता है। अतः मानव प्रेम दैवीय प्रेम की एक छाया है। वस्तुओं में प्रज्ज्वलित आनन्द के कारण ही हम अपनी पत्नी से भी प्रेम कर सकते हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार पति होने के कारण पति प्रिय नहीं है बल्कि उसमें निहित आत्मा के कारण पति प्रिय है। यही बात पत्नी, पुत्र, साम्राज्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, जीवसमुदाय आदि में भी द्रष्टव्य है। ये सभी अपने कारण से नहीं प्रत्युत चरम सत्य के कारण ही यहाँ अवस्थित हैं। इसी तरह तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि संसार की वस्तुएँ पाप के लिए प्रलोभन की वस्तु के रूप में नहीं प्रस्तुत की गयी हैं, इसके विपरीत वे दैवी आनन्द के लिए मार्ग के रूप में चित्रित हैं। एक बार सत्य दृष्टि के प्राप्त कर लेने पर हमें सम्पत्ति चाहिए। अतः हम कह सकते हैं कि संसार

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

के पदार्थ उस परमतत्व को प्राप्त करने के मार्ग हैं जिनके द्वारा हम उस तक पहुँच सकते हैं। किन्तु द्रष्टव्य है कि इन पदार्थों के प्रति हमारी निष्कामता एवं निर्लिप्तता सुस्थिर रहनी चाहिए, नहीं तो हम अपने मार्ग से विचलित हो जायेंगे।[216]

उपनिषदों के अनुसार स्वार्थपूर्ण कर्म ही हमें बंधन में आबद्ध करते हैं। निष्काम भाव से किया हुआ कर्म मुक्तिदायक होता है। ईशोपनिषद् में कहा गया है कि इस लोक में कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इसका तात्पर्य यह है कि निष्काम कर्ममार्ग का व्यक्ति कर्मो के बंधन में नहीं बँधता, बल्कि स्वार्थपूर्ण कर्म ही उसे बंधन में आबद्ध करते हैं।[217] गीता के कर्मपरक रहस्यवाद की बड़ी ही सुंदर मीमांसा की गयी है जिसकी चर्चा पीछे के पृष्ठों में की गयी है। गीता वैदिक यज्ञ के संकुचित अर्थ को स्वीकार नहीं करती। गीता के अनुसार निःस्वार्थ बुद्धि से किये गये परमात्मा की ओर ले जाने वाले समस्त कर्म यज्ञ कहलाते हैं। गीता कहती है कि फलाकांक्षा से रहित होकर किये गये कर्म कभी भी बंधन में नहीं डाल सकते। साधारण कर्मवाद को कर्मयोग में कर्म प्रवर्तित करने के लिए तीन सोपानों की आवश्यकता होती है—(क) फलाकांक्षा का वर्जन, (ख) कर्तृत्व के अभिमान का परित्याग, (ग) ईश्वर के प्रति समर्पण। गीता के अनुसार कर्म करना ही मनुष्य का अधिकार है, फल की इच्छा करना उसके अधिकार में नहीं है। गीता कहती है कि फल की आकांक्षा से कर्म मत करो तथा साथ ही अकर्म (कर्म न करने में) में कभी भी इच्छा नहीं होनी चाहिये—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

यही कर्मयोग का महामंत्र है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अनासक्त होकर, फल की कामना न करते हुए तथा सभी कर्मों एवं उनके फलों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर करणीय कर्मो का संपादन करना ही गीता–सम्मत कर्मयोग है। यह रहस्यवाद की पराकाष्ठा की स्थिति है जिसमें साधक आप्तकाम, आत्मकाम, तृप्त और अनाकांक्षी हो जाता है। वह आत्मराम होकर विचरण करता है। कर्मों के बंधन से वह मुक्त होता है। अतः निष्काम भाव से कर्मों का संपादन करना तथा कर्तृत्वाभिमान का परित्याग करके कर्मों एवं उनके फल का ईश्वर के प्रति समर्पण कर देना ही कर्मपरक रहस्यवाद के मूलतत्व हैं।

सन्दर्भ-सूची

1. पं० बलदेव उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 427-429
2. उपरिवत्, पृ० 16
3. म०म० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पृ० 191
4. वही, पृ० 194-195

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

5. डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, प्रिफेस, पृ० 10-11
6. जयशंकर प्रसाद, अभिषेक, पृ० 186-188
7. केनोपनिषद्, 4।7 : कठोपनिषद्, 1/3/17
8. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 37
9. उपरिवत्, पृ० 48
10. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 27-28
11. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 28-29
12. डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० 6-9
13. उपरिवत्, पृ० 15
14. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० 14-16
15. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 30-31
16. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० 17-19
17. उपरिवत्, 19-20
18. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 32-34
19. उपरिवत्, पृ० 34-35
20. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० 21
21. उपरिवत्, पृ० 21-23
22. डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० 18-25
23. डॉ० रानडे, ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 9,11
24. इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, खं० 9, पृ० 115-116
25. डॉ० रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 1-2
26. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम खं० पृ० 46-47
27. डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार, हिन्दू मिस्टिसिज्म (एकार्डिंग टू उपनिषद्स), पृ० 10
28. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० 48। बृहदारण्यकोपनिषद्, 4/5/15।, 4/4/22
29. कठोपनिषद् 1/3/15। बृहदारण्यकोपनिषद् 3/8/8
30. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० 49
31. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ० 49-50। तैत्तिरीयोप।2/7
32. कठोपनिषद् : 1/2/18। : 1/3/3-4। : मैत्रायणी उपनिषद्, 2/3-4
33. मुण्डकोपनिषद् 1/1/6।, कठोपनिषद् 1/2/20,22। : माण्डूक्योपनिषद् 1-5, 7-12
34. डॉ. रानडे : ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 197।, तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1। : ऐतरेयोपनिषद् 3/1/3
35. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/4।, केनोप० 1/3, 2/3 : कठोप० 1/2/7

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

36. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 41
37. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 42। मुण्डकोपनिषद् 1/1/6
38. कठोपनिषद् 1/3/10। केनोपनिषद् 2/3
39. मुण्डकोपनिषद् 1/1/4-5
40. रानडे, ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 240। छान्दोग्योपनिषद् 7/1/1-3
41. केनोपनिषद् 2/5।, क़ठोप० 2/3/4, बृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/14
42. रानडे, ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 241-243। छान्दोग्योप० 4/9/3, कठोप० 1/2/8-9
43. राधाकृष्णन, इंण्डियन फिलासाफी खण्ड-1, पृ० 236, मुण्डकोप० 3/2/8, प्रश्नोप० 6/5
44. रानडे, एक कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 251-252। श्वेताश्वतर उप० 2/11 : 4/18। बृहदारण्यक उप० 2/3/6; 5/9। मैत्री उप० 2/6। : छान्दोग्योपनिषद् 3/13/8।: 3/11 : 2-3
45. रानडे, ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 252-253। मुंडकोप० 3/2/3, छान्दोग्योप० 1/6/6, श्वेताश्वतर० 2/14-15, मैत्री उप० 2/1-3
46. ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 254-256। बृहदराण्यकोप० 4/4/12। : 4/3/21।, मुंडकोप० 2/2/8/ : 3/1/2।, तैत्तिरीयोप० 2/4, 7।, छान्दोग्योपनिषद् 8/7/1
47. छान्दोग्योप०। 3/14/1। : बृहदारण्यकोप० 1/4/10।, मुंडकोप० 2/2/11
48. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 54-55
49. श्रीमद्भगवद्गीता (गीता प्रेस संस्करण), पृ० 48
50. डॉ० राधाकृष्णन, भगवद्गीता, पृ० 15
51. उपरिवत्, पृ० 82-83
52. उपरिवत्, पृ० 21
53. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 55-56
54. भगवद्गीता, 13/14
55. उपरिवत्, 11।37। :।13।12। :।13।15
56. उपरिवत्, ।7।6। : 7।10। :।7।7।:।13।13
57. उपरिवत्, ।7।12
58. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 56-57, गीता 10।42। : 7।24। : 10।41
59. डॉ० राधाकृष्णन, भगवद्गीता 7।4-5, तथा संबंद्ध टीका
60. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 58

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

61. डॉ० राधाकृष्णन, भगवद्गीता, 2।20
62. उपरिवत्, 2।19 :।2।22
63. उपरिवत्, 2।23-24
64. डॉ० राधाकृष्णन, भगवद्गीता :।15।7। :।13।33
65. उपरिवत्, :।7।10।:।9।18
66. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 60। भागवद्गीता।15।18-19
67. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 61-62। भगवद्गीता।13।24-25
68. डॉ० राधाकृष्णन, भगवद्गीता, पृ० 55
69. उपरिवत्, पृ० 21-22
70. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 60-61
71. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 62। गीता 3: 10-16, 4।15-32
72. भगवद्गीता।3।5
73. उपरिवत्, 4।20-21
74. भगवद्गीता।2।50। :।5।2
75. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 62-63। भगवद्गीता।2।47। 18।2, 6
76. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 63। भगवद्गीता।9।27-28
77. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग दो, पृ० 499
78. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन : पृ. 63-64
79. डॉ० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, पृ० 58
80. भगवद्गीता :।6।29। तथा पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 64
81. डॉ० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता : 6।30 और संबद्ध टिप्पणी
82. उपरिवत्, 7।19। : 5।18
83. डॉ० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, 4।36-40। :।4।42। : 4।35
84. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड दो, पृ० 451
85. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 65
86. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग दो, पृ० 442-443
87. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग दो, पृ० 450। गीता : 2।39। : 3।3। : 3।7 : 5।2 : 13।24। : 2।49। :।10।10। : 18।57। : 14।26। : 2।50
88. डॉ० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता :।2।48। तथा सम्बद्ध भाष्य
89. उपरिवत्, 6।23
90. उपरिवत्, 6।19। : 6।27। :6।29

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

91. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग दो, पृ० 444-446। भगवद्गीता 6/8; 6/10-18
92. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 65। : भगवद्गीता ।6।8।: 6।47
93. डॉ० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, पृ० 64
94. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग दो, पृ० 521-523। भगवद्गीता 9/30-32
95. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग दो, पृ० 519-520। गीता : 18।66।18।55-62
96. गीता : 12।5-8
97. डॉ० राधाकृष्णन्, भगवद्गीता, पृ० 65
98. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग दो, पृ० 521। भगवद्गीता : 7।16-17
99. भगवद्गीता : 7।18
100. भगवद्गीता : 10।8-11
101. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 67-68। भगवद्गीता 18।51-55। ।9।34। : 18।64-66
102. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 68। : गीता।2।54-58। : 18।54
103. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 4
104. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 436। मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 4
105. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 4-5
106. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 5
107. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 5-7
108. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 7-8
109. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 446
110. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 446-447। श्रीमद्भागवत : 1।2।11। :।3।24।31। : 3।9।11
111. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 448-449। श्रीमद्भागवत : 11।14।20। : 7।7।51-52
112. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 8-10
113. उपरिवत्, पृ० 10-12
114. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 12
115. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 12
116. नारदभक्तिसूत्र, 2-7

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

117. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट, पृ० 12-13। नारदभक्तिसूत्र-सूत्र 15-21
118. नारदभक्तिसूत्र - सूत्र 25,26
119. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 13। : नारदभक्तिसूत्र- 27-30
120. नारदभक्तिसूत्र - सूत्र 34-42
121. उपरिवत्, सूत्र 43-50
122. नारदभक्तिसूत्र-सूत्र 51-55
123. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 14। : नारदभक्तिसूत्र-56,57,82
124. नारदभक्तिसूत्र - 58-60
125. उपरिवत्, सूत्र 61-65
126. उपरिवत्, सूत्र, 72-75,79,76,78
127. नारदभक्तिसूत्र - सूत्र 81,83
128. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 15
129. रानडे, मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र, पृ० 15-16
130. डॉ० शर्मा, भागवत दर्शन, पृ० 47-48
131. उपरिवत् : पृ० 48-51
132. मोनियर विलियम्स - बुद्धिज्म, पृ० 224-225
133. उपरिवत्, पृ० 235
134. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 119-121
135. उपरिवत्, पृ० 121-122
136. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 122-123। डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० 87-88
137. डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० 87-90
138. उपरिवत्, पृ० 90-91
139. डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० 95-98
140. मोनियर विलियम्स, बुद्धिज्म, पृ० 246
141. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 129-130
142. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 132
143. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, पृ० 156, 169-170
144. इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, वाल्यूम 9, पृ० 85-86
145. एफ०सी० हैपोल्ड, मिस्टिसिज्म, पृ० 81
146. डॉ० उपाध्याय, तांत्रिक बौद्धसिद्धाचार्य कृष्णवज्रपाद की अपभ्रंश रचनाओं का अध्ययन एवं संपादन, द्रष्टव्य– तांत्रिक बौधसाधना और कृष्ण वज्रपाद की साधना-पद्धति शीर्षक पाँचवे परिच्छेद का अंतिम अंश, पृ० 301-302

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

147. पं० उपाध्याय, बौद्धदर्शन मीमांसा, पृ० 386-387
148. डॉ० उपाध्याय, तांत्रिक बौद्धसिद्धाचार्य कृष्णवज्रपाद की अपभ्रंश रचनाओं का अध्ययन एवं संपादन, द्रष्टव्य– तांत्रिक बौधसाधना और कृष्ण वज्रपाद की साधना-पद्धति शीर्षक पाँचवे परिच्छेद का अंतिम अंश पृ० 302-303
149. डॉ० उपाध्याय, वही, पाँचवें परिच्छेद का अंतिम अंश, पृ० 303-305
150. इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, वॉल्यूम सात, पृ० 465, 467-468
151. वही, पृ० 468
152. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, (1976 ई०), पृ० 108-109
153. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, (1976 ई०), पृ० 110
154. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, (1976 ई०), पृ० 106-107
155. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 184-185
156. उपरिवत्, पृ० 214-215
157. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, (1976 ई०), पृ० 118
158. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० 11-12
159. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० 12-13
160. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, (1976 ई०), पृ० 99,112-113
161. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० 208-211
162. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन, (1976 ई०) पृ० 116-117
163. अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, पृ० 16
164. उपरिवत्, पृ० 14-15। 19-21 तथा उनपर उद्धृत जैनमुनियों की रचनायें द्रष्टव्य
165. डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० 17-18
166. उपरिवत्, पृ० 18
167. उडरफ, 'इंट्रोडक्शन टू तंत्रशास्त्र' के विभिन्न परिच्छेद द्रष्टव्य हैं
168. तांत्रिक बौद्धसाधना और साहित्य, परिच्छेद सं० नौ, दस, ग्यारह, बारह और परिशिष्ट सं० पाँच द्रष्टव्य
169. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग चार, पृ० 353। : शांडिल्यभक्तिसूत्र : 1।1।2
170. शांडिल्य भक्तिसूत्र, 1।1।3। : 1।2।10,22।:2।1।29-31।: 2।1।37, 42
171. उपरिवत्, ।2।1।44। : 2।2।56। : 2।2।72 : 2।2।74। : 2।2।78।: 3।2।93
172. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग चार, पृ० 353
173. भागवत, 3।29।7-10
174. उपरिवत्, 3।29।11-12

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

175. भागवत्, 7।5।23
176. गीता, 7।16,17
177. डॉ० दीक्षित, तुलसीदास और उनका युग, पृ० 201-202
178. नाथ और संत साहित्य, पृ० 159-161
179. भागवत, 11।3।21,22। : 5।5।18।: गीता, 17।14
180. ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 239-240। मुण्डकोप-निषद्-1।1/4-5
181. ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे ऑफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 240। छान्दोग्य उप०।7।1।1-3।: केन उप० 2।5: कठ उप० 2।3।4
182. बृहदारण्यकोपनिषद्, 4।4।14
183. डॉ० राधाकृष्णन्, इंडियन फिलासाफी, खंड एक, पृ० 223-225।: प्रश्नोपनिषद्–1।1-3। छांदोग्योपनिषद्– 4।4।1-5।: बृहदारण्यकोपनिषद् 1।4।15। : 3।8।10
184. भगवद्गीता, 7।16,17
185. उपरिवत्, 7।18
186. डॉ० दासगुप्त, हिन्दू मिस्टिसिज्म, पृ० 62
187. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ० 234
188. कठोपनिषद्, 2।3।10-11
189. रानडे, ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 137-138। श्वेताश्वतरोपनिषद्–।2।8-15
190. रानडे, ए कस्ट्रंक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासाफी, पृ० 138-139। कठोपनिषद्– 2।3।10-11। : श्वेताश्वतरोपनिषद्–1।14। : मुण्डकोप 3।1।1। : कठोपनिषद् 2।2।11। : मैत्री उप. 1।2।: कौषीतकि उप. 4।19।: छान्दोग्योपनिषद् 8।6।1।: बृहदा० उप० 4।3।20
191. बृहदा० उप० 2।1।19। : प्रश्नोप. 3।6-7। कठोप० 2।3।16: 2।2।1, 3
192. मुंडकोप० 3।2।6। : श्वेता० उप० 1।3 :।3।18। मैत्री उप० 6।18
193. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड 1, पृ० 235
194. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड 3, पृ० 28,29
195. डॉ० दासगुप्त, भारतीय दर्शन का इतिहास, खण्ड 3, पृ० 30,31
196. उपरिवत्, पृ० 55-56
197. पातंजल योगदर्शन, समाधिपाद 1, सूत्र- 2-4
198. डॉ० उपाध्याय, नाथ और संत साहित्य, पृ० 229
199. पं० उपाध्याय, भारतीय दर्शन (सन् 1976), पृ० 293
200. पातंजल योगदर्शन, 1।5-6,12। भगवद्गीता, 6।35

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

201. प्रज्ञा, हीरक जयंती विशेषांक ,1976-1977, योग का स्वरूप, पृ० 110
202. उपरिवत्, पृ० 111
203. पातंजल योगदर्शन, 1।17,23,24,27-39
204. पातंजल योगदर्शन, 1।42-44,46,47,51
205. उपरिवत्, 2।1-3
206. उपरिवत्, 2।28-34,44-45
207. नाथ और संत साहित्य, पृ० 230
208. पातंजल योगदर्शन, 2।46,49,53,54
209. उपरिवत्, 3।1-4,7
210. उपरिवत्, 3।26-34
211. उपरिवत्, 4।1
212. नाथ और संत साहित्य, पृ० 231-232
213. उपरिवत्, पृ० 242-243
214. नाथ और संत साहित्य, पृ० 255-256,246,247,234-239
215. उपरिवत्, पृ० 247-248, 234,235,273-274
216. डॉ० राधाकृष्णन्, इंडियन फिलासाफी, खण्ड 1, पृ० 217। बृहदारण्यकोपनिषद् : 2।4।5। : तैत्तिरीयोपनिषद् 1।4
217. डॉ० राधाकृष्णन्, इंडियन फिलासाफी, खण्ड 1, पृ० 245-246। ईशोपनिषद्-21

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

परिशिष्ट

सहायक साहित्य

(अ) संस्कृत ग्रंथ

ग्रंथ/रचयिता	प्रकाशक	सन्
ईशावास्योपनिषद्	गीता प्रेस, गोरखपुर	सं० 2026 वि०
उपनिषद संग्रह, जगदीश शास्त्री,	मोतीलाल, बनारसीदास, बनारस,	सन् 1970
ऐतरेयोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2025 वि०
कठोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2024 वि०
केनोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2026 वि०
छान्दोग्योपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2023 वि०
तैत्तिरीयोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2026 वि०
नारदभक्तिसूत्र, श्रीरामकृष्णनाथ	मीलापुर, मद्रास	सन् 1972
नारदभक्तिसूत्र	गीताप्रेस, गोरखपुर	
प्रश्नोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2026 वि०
बृहदारण्यकोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2025 वि०
भगवद्गीता, डॉ०एस० राधाकृष्णन् (हिन्दी अनुवाद)	राजपाल एंड संस, नई दिल्ली,	1972 ई०
माण्डूक्योपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2026 वि०
मुण्डकोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2026 वि०
योगदर्शन (पतञ्जलिकृत)	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2032 वि०
शांडिल्यकृत भक्तिदर्शन	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2012 वि०
श्वेताश्वतरोपनिषद्	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2023 वि०
श्रीमद्भगवद्गीता	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2019 वि०
श्रीमद्भागवत (दोनों खण्ड)	गीताप्रेस, गोरखपुर	सं० 2033 वि०

(ब) हिन्दी ग्रंथ

अपभ्रंश और हिन्दी में जैन रहस्यवाद, डॉ० वासुदेव सिंह, समकालीन प्रकाशन, वाराणसी सं० 2022 वि०

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अभिषेक, जयशंकर प्रसाद संपा० श्री रत्नशंकर प्रसाद, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1978 ई०

अष्टछाप और बल्लभसंप्रदाय, भाग 1,2, डॉ० दीनदयालु गुप्त, हिन्दी साहित्य, सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय, 1970 ई०

आधुनिक हिन्दी काव्य पर अरविंद दर्शन का प्रभाव, डॉ० कृष्णा शारदा, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० 2029

उत्तरी भारत की संत परंपरा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सन् 1972

कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1971 ई०

कबीर और जायसी का रहस्यवाद तथा तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, साहित्य सदन, देहरादून, द्वितीय सं० 1960 ई०

कबीर का रहस्यवाद, डॉ० रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन प्रा०लि० इलाहाबाद, सन् 1966 ई०

कबीर, व्यक्तित्व कृतित्व एवं सिद्धांत : डॉ० सरनाम सिंह 'शर्मा', भारतीय शोध संस्थान, गुलाबपुरा, राजस्थान, 1969 ई०

गोरखबानी, संपा० डॉ० पीतांबरदत्त बड्थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० 2017 वि०

गोस्वामी तुलसीदास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्राचारिणी सभा, वाराणसी, सं० 2029 ई०

चिंतामणि, भाग 2, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी सं० 2027 वि०

जायसी, डॉ० रामपूजन तिवारी, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1965 ई०

जायसी ग्रंथावली, संपा० आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० 2028 वि०

तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० 2015 वि०

तांत्रिक बौद्ध सिद्धाचार्य कृष्णवज्रपाद की अपभ्रंश रचनाओं का अध्ययन और संपादन, डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, कानपुर विश्वविद्यालय की डी०लिट् की उपाधि के लिये स्वीकृत शोध संबंध सन् 1975 ई०

तुलसीदास, आचार्य चन्द्रबली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी सं० 2014 वि०

तुलसीदास, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1972 ई०

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

तुलसीदास और उनका युग, डॉ० राजपति दीक्षित, ज्ञानमंडल लि० वाराणसी, सं० 2032 वि०

नाथ और संत साहित्य, डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी सन् 1965 ई०

बौद्ध-दर्शन मीमांसा, पं० बलदेव उपाध्याय, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी सन् 1954 ई०

भक्तमाल, नाभादास, श्री ब्रजबल्लभ हरिप्रसादजी, बंबई, मुंबई वैभव प्रेस, बंबई, सन् 1924 ई०

भक्तिकाव्य में रहस्यवाद, डॉ० रामनारायण पाण्डेय, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जवाहरनगर, दिल्ली, सन् 1966 ई०

भावनायोग, (दि नेचर आफ मिस्टिसिज्म) : मूल लेख सी० जिनराजदास, अनुवादक रायबहादुर पंड्या बैजनाथ, आनन्द पब्लिशिंग हाउस, थियोसोफिकल सोसाइटी, बनारस, 1951 ई०

भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मंदिर, वाराणसी, सन् 1966 ई०

भारतीय दर्शन, आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखंभा ओरियंटालिया, वाराणसी सन् 1976 ई०

भागवत दर्शन, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, सं० 2020 वि०

भारतीय दर्शन का इतिहास, प्रथम खण्ड, मूल० ले० डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (हिन्दी अनुवाद) राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकादमी, जयपुर, 1978 ई०

भारतीय दर्शन का इतिहास, दूसरा खंड, डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (हिन्दी अनुवाद), राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकादमी, जयपुर, 1973 ई०

भारतीय दर्शन का इतिहास, तृतीय खण्ड, डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (हिन्दी अनुवाद), राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकादमी, जयपुर, 1974 ई०

भारतीय दर्शन का इतिहास, चतुर्थ खण्ड, डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (हिन्दी अनुवाद), राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकादमी, जयपुर, 1972 ई०

भारतीय दर्शन का इतिहास, पंचम खण्ड, डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त (हिन्दी अनुवाद), राजस्थान हिन्दी ग्रंथ एकादमी, जयपुर, 1975 ई०

मध्यकालीन धर्मसाधना, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन प्रा०लि० इलाहाबाद, सन् 1962 ई०

रहस्यवाद, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् 1963 ई०

रहस्यवाद, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1966 ई०

रामचरितमानस, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० 2014 वि०

*वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति*०, म०म०पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् 1972 ई०

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

श्री अरविंद के पत्र, भाग 1, श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी, सन् 1953 ई०

श्री अरविन्द के पत्र, भाग 2, श्री अरविन्द आश्रम पांडिचेरी, सन् 1953 ई०

संत-काव्य-संग्रह, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, किताब महल, इलाहाबाद, सन् 1967 ई०

संत साहित्य, डॉ. राधेश्याम दूबे, चौखंभा ओरियंटालिया, वाराणसी, सन् 1978 ई०

संस्कृत आलोचना, आचार्य बलदेव उपाध्याय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1978 ई०

सूफीकाव्य संग्रह, संपा० आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सन् 1965 ई०

सूफीकाव्य विमर्श, डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, सन् 1968 ई०

सूफीमत साधना और साहित्य, डॉ० रामपूजन तिवारी, ज्ञानमंडल लि. वाराणसी, सं० 2025 ई०

सूर और उनका साहित्य, डॉ० हरवंशलाल शर्मा, भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़, सन् 1971 ई०

हिंदी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, डॉ० पीतांबरदास बड़थ्वाल, अवध पब्लिशिंग हाउस, पानदरीबा, चारबाग, लखनऊ, 1968 ई०

हिंदी संतकाव्य में प्रतीक विधान, डॉ० देवेन्द्र आर्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली सन् 1971 ई०

हिंदी साहित्य का अतीत, प्रथम भाग, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, सं० 2022 वि०

हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, सं० 2022 वि०

(स) अंग्रेजी ग्रंथ

एन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिस्ट इसोटेरिज्म, विनयतोप भट्टाचार्य, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1932 ई०

ए कांस्ट्रक्टिव सर्वे आफ उपनिषदिक फिलासफी, डॉ० आर०डी०रानडे, भारतीय विद्या भवन, बम्बई 1968 ई०

बुद्धिज्म, सर एम० मोनियर विलियम्स, दी चौखम्भा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, 1964 ई०

इस्टर्न रीलिजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट्स, डॉ० एस० राधाकृष्णन्, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1940 ई०

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, वाल-9, संपा० जेम्स हेस्टिंग्स, इडियनवर्ग, टी० एण्ड टी. क्लार्क्स 38, जार्ज स्ट्रीट, न्यूयार्क- चार्ल्स इस्क्रिब्नर्स संस, 597 फिफ्थ एवेन्यू, थर्ड इंप्रेशन, अगस्त, 1953 ई०

इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, वाल-7, संपा० जेम्स हेस्टिंग्स, इडियनवर्ग, टी० एण्ड टी० क्लार्क्स 38, जार्ज स्ट्रीट, न्यूयार्क- चार्ल्स इस्क्रिब्नर्स संस, 597 फिफ्थ एवेन्यू, थर्ड इंप्रेशन, अगस्त, 1955 ई०

इनसाइक्लोपीडिया आफ रेलिजन एण्ड एथिक्स, वाल-12, संपा० जेम्स हेस्टिंग्स, इडियनवर्ग, टी० एण्ड टी० क्लार्क्स 38, जार्ज स्ट्रीट, न्यूयार्क- चार्ल्स इस्क्रिब्नर्स संस, 597 फिफ्थ एवेन्यू, थर्ड इंप्रेशन, अगस्त, 1955 ई०

इंडियन फिलासफी, भाग 1, डॉ० एस० राधाकृष्णन्, न्यूयार्क– दि मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लंदन- जार्ज एलेन एण्ड अनविन लि. 1962 ई०

इंट्रोडक्शन टु तंत्रशास्त्र, सर जान उडरफ, गणेश एंड कंपनी, मद्रास लि०, मद्रास 17, सन् 1952 ई०

हिंदू मिस्टिसिज्म, डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, प्रथम सं० सन् 1976 ई०

हिंदू मिस्टिसिज्म, (एकार्डिंग टू दि उपनिषद्स), महेन्द्रनाथ सरकार, ओरियंटल बुक्स, रीप्रिंटि कारपोरेशन, 54 रानी झांसी रोड, नई दिल्ली, सन् 1974 ई०

हिंदू मिस्टिसिज्म (स्टडीज इन वैष्णवीज्म एण्ड तांत्रिसिज्म), पार्ट 1, महेन्द्रनाथ सरकार, भारतीय महाविद्यालय कलकत्ता, सन् 1943 ई०

मेडिवल मिस्टिसिज्म आफ इंडिया, क्षितिमोहन सेन, लूजाक एंड कम्पनी, 46, ग्रेट रसेल स्ट्रीट, लंदन, सन् 1935 ई०

मिस्टिसिज्म, एवलिन अंडर हिल, मैथ्यू एंड कं०लि०, 11 न्यू फेटर लेन, इसी-4, 1967 ई०

मिस्टिसिज्म, एफ०सी० हैपोल्ड, पेंग्विस बुक्स लि० सन् 1964 ई०

मिस्टिसिज्म, इस्ट एण्ड वेस्ट, रुडाल्फ आट्टो मेरीडियन बुक्स, न्यूयार्क, सन् 1957 ई०

मिस्टिसिज्म इन इंगलिश लिटरेचर, सी०एफ०ई० स्पर्जियन, कैंब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1913 ई०

मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र (हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासाफी), वाल-7, आर०डी० रानडे, प्रका० अनन्त विनायक पटवर्धन, आर्यभूषण प्रेस आफिस, हाउस नं० 626, शनवारपेठ, पूना, 1933 ई०

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मिस्टिसिज्म इन रेलिजन, डब्लू०आर० इंज, हचिंसंस यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, 47, प्रिंसेज गेट, लंदन

मिस्टिसिज्म इन वर्ल्ड रेलिजन, सीडनी स्पेंसर, पेंग्वीन बुक्स लि०, मिडिलसेक्स, सन् 1963 ई०

पाथ वे टु गाड इन हिंदी लिटरेचर, आर०डी० रानडे, आध्यात्म विद्या मंदिर, संगली, सन् 1954 ई०

दि अप्रोच टु मिस्टिसिज्म, नलिनीकांत गुप्त, री अरविंद लाइब्रेरी, 369, इस्प्लानाडे, जार्जटाउन, मद्रास, सन् 1946 ई०

दि न्यू इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, मैक्रोपीडिया, वल० 12, लंदन, 1974 ई०

(द) कोश एवं शोध पत्रिकाएँ

उर्दू हिन्दी शब्दकोश, मुहम्मद मुस्तफा खां, मद्दाह, हिन्दी समिति, हिन्दी भवन, लखनऊ, सन् 1972 ई०

पौराणिक कोष, ज्ञान मंडल लि०, वाराणसी, संवत् 2028 वि०

बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश, (भाग 1-2) डॉ० हरदेव बाहरी, ज्ञानमंडल लि०, वाराणसी, सन् 1969 ई०

मानक हिन्दीकोश (5 खंडों में), सं० रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयोग, प्रथम संस्करण

वैदिक कोश, संपा० सूर्यकान्त, वैदिक रिसर्च समिति बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, सन् 1963 ई०

संस्कृत हिन्दी कोश, संपा० वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 1969 ई०

हिन्दी विश्वकोश, खण्ड 1-3, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, द्वितीय नवीन संस्करण

हिन्दी विश्वकोश, खण्ड 4-12, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण

हिन्दी शब्दसागर, खण्ड 1-11, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, नवीन संस्करण

हिन्दी साहित्यकोश, प्रथम भाग, संपा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लि०, वाराणसी, संवत् 2020

हिन्दी साहित्यकोश, द्वितीय भाग, संपा० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमंडल लि०, वाराणसी, संवत् 2020

चेम्बर्स डिक्शनरी, डब्ल्यू० एण्ड आर० चैम्बर्स, लि० 11 थिसिल स्ट्रीट एडिनवर्ग, 1964 ई०

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

नागरी प्रचारिणी पत्रिका, शोध विशेषांक, वर्ष 77, अंक 1-4, सं० 2029 वि० नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, तुलसी विशेषांक, अंक 1-4, सं० 2031 वि०, वाराणसी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, संपूर्णानन्द स्मृति अंक, अंक 1-4, सं० 2025 वि०, वाराणसी

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, सूर विशेषांक, अंक 1-4, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, हीरक जयन्ती विशेषांक, अंक 21 (भाग 2) 22 (भाग 1-2), 23, (भाग 1), वर्ष 1976-77

प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, अंक 23 (भाग 2) एवं 24 (भाग 1) वर्ष 1978 ई०

प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, मानसचतुश्शती विशेषांक अंक 19 (भाग 1-2) तथा अंक 20, भाग 1, वर्ष 1973-74

प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, अंक 20 (भाग 2) तथा अंक 21 (भाग 1) वर्ष 1975 ई०

हिन्दी अनुशीलन, शोध विशेषांक 2, वर्ष 26, संयुक्तांक 29-32, 1976 ई०, भारतीय हिन्दी परिषद्, इलाहाबाद

●

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रो. राधेश्याम दूबे

बिहार राज्य के सीवान जिलान्तर्गत गुठनी थाना के पीपरपाती ग्राम में 5 जनवरी, 1948 ई. को जन्म। प्रारम्भिक शिक्षा हरिराम हाईस्कूल, मैरवा तथा डी.ए.वी. कॉलेज, सीवान (बिहार) में सम्पन्न। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1968 ई. में बी.ए. (आनर्स) तथा 1970 ई. में हिन्दी साहित्य से प्रथम श्रेणी में एम.ए. उत्तीर्ण। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1973 ई. में "औपनिषद विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में संत-साहित्य का अनुशीलन" शीर्षक विषय पर पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त। मगध विश्वविद्यालय, बोधगया (बिहार) से 1981 ई. में "भक्तिकाल में भारतीय रहस्यवाद का विकास" शीर्षक विषय पर डी.लिट्. उपाधि प्राप्त। अगस्त, 1973 ई. से ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापन-कार्य। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष पद को 1 जुलाई, 2009 से 30 जून 2012 तक सुशोभित किया।

प्रकाशित–ग्रंथ :

1. सन्त-साहित्य
2. हिन्दी निबन्ध नवनीत
3. कबीर : कवि-साधक-समाज सुधारक
4. काशिका (सम्पादक) हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

शोधालेख : विविध पत्रिकाओं एवं ग्रंथ संग्रहों में सोलह लेख प्रकाशित।

प्रकाशनाधीन ग्रन्थ : जैन अपभ्रंश-रहस्यदर्शीकाव्य।

सम्प्रति : प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उ.प्र.।

सम्पर्क : 'पंचवटी'

बी-22/153-13, रामबाग कालोनी,
कंकड़ाबीर, विनायका, कमच्छा
वाराणसी - 221010
दूरभाष : 0542-2361194
मो. : 09415684221

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

अध्यात्म, योग, तंत्र, धर्म, दर्शन, संस्कृति विषयक प्रमुख ग्रन्थ

जपसूत्रम् (प्रथम व द्वितीय खण्ड)	*स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती*
वेद व विज्ञान	*स्वामी श्री प्रत्यगात्मानन्द् सरस्वती*
वेदान्त और आइन्सटीन	*अनिल भटनागर*
सृष्टि-तत्त्व तथा राजा एवं प्रजा	*भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द*
परलोक तत्त्व	*भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द*
मानव-तत्त्व तथा वर्णविवेक	*भार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्द*
अतीन्द्रिय लोक	*गोविंद प्रसाद श्रीवास्तव*
योग वासिष्ठ की सात कहानियाँ	*भरत झुनझुनवाला*
कुण्डलिनी शक्तियोग तथा समाधि एवं मोक्ष	*डॉ० दिनेशकुमार अग्रवाल*
योग और आरोग्य (साधना और सिद्धि)	*डॉ० कपिलदेव द्विवेदी*
बृहत श्लोक संग्रह (सर्वधर्म सार)	*प्रो० कल्याणमल लोढ़ा*
हिन्दी ज्ञानेश्वरी	*अनु० : ना०वि० सप्रे*
श्रीमद् एकनाथी भागवत	*अनु० : ना०वि० सप्रे*
तुकाराम गाथा (संतश्रेष्ठ तुकाराम के चुने हुए अभंगों का भावानुवाद)	*अनु०: ना०वि० सप्रे*
मनीषी की लोकयात्रा (पं०गोपीनाथ कविराज का जीवन-दर्शन)	*डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह*
सूर्य विज्ञान प्रणेता योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव :	
जीवन और दर्शन	*नन्दलाल गुप्त*
योगिराजाधिराज श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस	*अक्षयकुमारदत्त गुप्त कविरत्न*
योगिराज विशुद्धानन्द प्रसंग तथा तत्त्व कथा	*पं० गोपीनाथ कविराज*
स्वर से समाधि / यंत्र-मंत्र रहस्य	*स्वामी कृष्णानन्दजी 'महाराज'*
गुप्त भारत की खोज	*पाल ब्रंटन*

म०म०पं०गोपीनाथ कविराज की अध्यात्मपरक कृतियाँ

भारतीय धर्म साधना * क्रम-साधना * अखण्ड महायोग * श्री साधना
श्री कृष्ण प्रसंग * शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी * तत्त्वजिज्ञासा
सनातन-साधना की गुप्तधारा * साधु दर्शन एवं सत्प्रसंग (भाग 1-2, 3 व 4)
ज्ञानगंज * प्रज्ञान तथा क्रमपथ * परातंत्र साधना पथ * तत्त्वानुभूति * दीक्षा
साधन पथ * योग-तन्त्र साधना * रहस्यमय सिद्धभूमि तथा सूर्यविज्ञान

विश्वविद्यालय प्रकाशन
पो०बॉ० 1149, विशालाक्षी भवन,
चौक, वाराणसी - 221001
Phone & Fax : (0542) 2413741, 2413082
e-mail : sales@vvpbooks.com

₹ 200.00
ISBN:978-81-7124-894-0
9 788171 248940
www.vvpbooks.com

Prof. Madhav Prasad Lamichhane Collection, Kathmandu, Nepal